आधुनिक
हिन्दी-मराठी में काव्य-शास्त्रीय अध्ययन

(विशेषत सन् १९०० से १९६० तक)

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

लेखक
डॉ० मनोहर काळे
प्राध्यापक, रामजस कालेज, दिल्ली

हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि०
गिरगाँव, — बम्बई—४
शाखा दिल्ली

१९६३ | प्रथम संस्करण

मूल्य | इक्कीस रुपए

प्रकाशक | यशोधर मोदी
मैनेजिंग डाइरेक्टर
हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड बम्बई-४

मुद्रक | पी० पी० ठाकुर व्यवस्थापक
लीडर प्रेस इलाहाबाद

आवरण | कमल

विषय सूची

द्वितीय अध्याय

अलंकार सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

तृतीय अध्याय

रीति-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

पचम अध्याय

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

षष्ठ अध्याय

औचित्य-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन

सप्तम अध्याय

ऐतिहासिक सर्वेक्षण

०

हमारी योजना

'आधुनिक हिन्दी-मराठी में काव्य शास्त्रीय अध्ययन' हिन्दी अनुसंधान परिषद् ग्रन्थ माला का सत्ताईसवाँ ग्रन्थ है। 'हिन्दी अनुसंधान परिषद' हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है, जिसकी स्थापना अक्तूबर सन १९५२ में हुई थी। परिषद के मुख्यत दो उद्देश्य हैं हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ तीन प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे, जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है और तीसरे वे ग्रन्थ जिनका अनुसंधान के साथ—उसके सिद्धान्त और व्यवहार दोनों पक्षों के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं—(१) हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, (२) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, (३) अरस्तू का काव्य शास्त्र, (४) हिन्दी काव्यादर्श, (५) अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, (हिन्दी अनुवाद) (६) पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, (७) काव्य-कला (होरेस कृत), (८) सौन्दर्य तत्त्व, (९) हिन्दी अभिनवभारती तथा (१०) हिन्दी नाट्यदर्पण। द्वितीय वर्ग के ग्रन्थ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, (२) हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, (३) सूफीमत और साहित्य, (४) अपभ्रंश साहित्य (५) राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, (६) सूर की काव्य-कला,' (७) हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, (८) मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, (९) हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य, (१०) मतिराम कवि और आचार्य (११) आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त, (१२) ब्रज भाषा के कृष्ण काव्य में माधुर्य भक्ति (१३) हिन्दी में नीति काव्य का विकास। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत तीन ग्रन्थों

का प्रकाशन हो चुका है—(१) अनुसंधान का स्वरूप, (२) हिंदी में स्वीकृत शोध प्रबंध तथा (३) अनुसंधान की प्रक्रिया।

प्रस्तुत ग्रंथ द्वितीय वर्ग का चौदहवां प्रकाशन है, जिसे हम काव्य एवं काव्य शास्त्र के मर्मज्ञों की सेवा में अर्पित कर रहे हैं। इस शोध प्रबंध के माध्यम से हम हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के अक्षय भाण्डार में प्रवेश कर रहे हैं।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिंदी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थाओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं।

हिन्दी अनुसंधान परिषद,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।
२० अप्रल, १९६३

नगेन्द्र
(अध्यक्ष)

प्रस्तावना

शुभा ते पन्थान सन्तु

मराठी वाङ्मय के इतिहास से विदित होता है कि प्राचीन काल के अधिकांश साहित्य का स्वरूप काव्यमय या पद्यबद्ध-सा था। गद्य लेखन के लिए यथेष्ट उत्तेजन विगत शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही प्राप्त हुआ। तदुपरान्त कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध इत्यादि गद्य साहित्य की विधाओं का निर्माण हुआ और इस साहित्य की प्रचुर समृद्धि हुई। इसी के साथ इस प्रकार के साहित्य के विषय में विचार चर्चा आरम्भ हुई। इसके लिए हमने उसी अंग्रेजी साहित्य से समीक्षा तत्वों और विचारों को ग्रहण किया, जिससे हमारे गद्य साहित्य को उत्तेजन प्राप्त हो रहा था और उन्हीं से हम अपना निर्वाह करने लगे। परन्तु आरम्भ में काव्य विषयक चिन्तन के क्षेत्र में तो हमारी दृष्टि संस्कृत साहित्य के विचारों पर केन्द्रित थी। मेरे विचार में यह स्थिति उत्तर भारत की प्राय सभी भाषाओं के लिए संभवत समान रही होगी।

इसका एक परिणाम यह हुआ कि हमने अपने आस पास की इतर देशी भाषाओं की गतिविधियों के प्रति दुर्लक्ष किया और हम अंग्रेजी तथा संस्कृत साहित्य के विचारों का ही एकान्तत अवलंब लेने लगे। इन दोनों भाषाओं में निहित वाङ्मय समृद्धि और साहित्य सम्बन्धी विचार हमें पर्याप्त लगने लगे। अत हमने इतर देशी भाषाओं अथवा यूरोपीय भाषाओं का विशेष परिचय प्राप्त नहीं किया। अंग्रेजी भाषा और साहित्य का हम पर भले ही पर्याप्त ऋण रहा हो, परन्तु इस से एक बड़ी हानि यह हुई कि हम इतर भारतीय भाषाओं से दूर दूर रहने लगे। हमारा प्रतिदिन का पारस्परिक व्यवहार निजी भाषाओं की अपेक्षा अंग्रेजी के माध्यम से चलने लगा। परिणामत अंग्रेजी के बिना अन्य भाषाओं को सीखने की आवश्यकता ही नहीं रही। साथ ही संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य देशी भाषाओं के साहित्य की तुलना में पर्याप्त समृद्ध था, अत इनके अतिरिक्त अन्य साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होने लगी।

कम से कम मराठी जनता के विषय में तो यही स्थिति रही है। अंग्रेजी भाषा और साहित्य इन दोनों देशी भाषाओं के बीच में दीवार बन कर खड़े हो गये। प्राचीन मराठी साहित्य के संतों और कवियों ने हिन्दी में भी रचनाएँ की थी। नामदेव की हिन्दी और पंजाबी भाषाओं की रचनाएँ तो प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु वर्तमान समय में प्रायः ऐसी स्थिति दिखाई नहीं देती। अंग्रेजी की सहायता से हम यूरोप के साहित्य सम्बन्धी विचारों की जानकारी अधिक रखते हैं परन्तु अपनी भगिनी तुल्य भाषाओं में निहित 'विचार धन' से हम अज्ञात हैं। भारतीय जनता में जो भावनात्मक एकता अपेक्षित है उस दृष्टि से विचार करें तो यह परिस्थिति अनिष्ट और लज्जाजनक है। देशी भाषाओं के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन और पारस्परिक परिचय अत्यन्त इष्ट और आवश्यक है। इन भाषाओं में परस्पर आदान प्रदान को प्रोत्साहित करना चाहिए और एक दूसरे की सहायता की दृष्टि से इस कार्य में प्रवृत्त होना आवश्यक है।

डा० मनोहर काळे द्वारा प्रस्तुत हिन्दी और मराठी साहित्य-गत विचारों का तुलनात्मक अध्ययन इसी कारण मुझे अत्यन्त स्वागतार्ह प्रतीत होता है। जहाँ तक मराठी के सम्बन्ध में कहना है,—और मैं इसी सम्बन्ध में ही कह सकता हूँ—इन्होंने एतद्विषयक प्रायः सभी साहित्य का परिश्रम पूर्वक अध्ययन करके उसमें निहित सारभूत सिद्धान्तों को भली प्रकार से उपस्थित किया है और इनके आधार पर इन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं वे उपयुक्त ही हैं। मराठी में साहित्य की इतर शाखाओं के विषय में जो अध्ययन हुआ है, उसे इस शोध प्रबन्ध में ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि इनके प्रबन्ध का क्षेत्र काव्य विचारों तक ही मर्यादित है। इनका यह शोध प्रबन्ध हिन्दी और मराठी साहित्य के समीक्षकों के लिए अत्यन्त उपयोगी और मूल्यवान सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा। इनका प्रस्तुत प्रयत्न इन दोनों भाषाओं की इतर शाखाओं में भी इसी प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्फूर्तिदायक और मार्गदर्शक सिद्ध होगा, ऐसी मेरी आशा है।

डेक्कन कालेज (पदव्युत्तर) ...

रा० श्री० जोग

पूना—४
१ फरवरी १९६३

प्रस्तावना

शुभा तें पन्थान सन्तु

मराठी वाङ्मयाच्या इतिहासांत असें आढळतें की प्राचीन कालांत बहुतेक वाङ्मय काव्यस्वरूपाचें, निदान पद्यबद्ध असें होतें, गद्य लेखनास गेल्या शतकाच्या पूर्वार्धांतच म्हणण्यासारखें उत्तेजन मिळालें, व त्यानंतरच्या कालांत कथा, कादंबरी, नाटक, निबंध इत्यादि गद्य-वाङ्मयाचे प्रकार निर्माण होऊन त्या वाङ्मयाची भरभराट झाली, त्या-बरोबर या प्रकारच्या साहित्याविषयींहि विचार चर्चा व्हावयास प्रारंभ झाला, या चर्चेला आधार म्हणून समीक्षेचीं तत्त्वें किंवा कल्पना मांहि त्या वाङ्मयास चालना देणाऱ्या इंग्रजी वाङ्मयांतून घेऊन आपण त्यावर निर्वाह करूं लागलो, काव्य विचारामध्ये मात्र आरंभींतरी संस्कृत साहित्य विचारच डोळ्यापुढें होता, बहुतेक सर्व उत्तर भारतीय भाषा मध्ये ही अशीच स्थिति असावी असें मला वाटतें,

याचा एक परिणाम असा झाला की आपल्या आजू बाजूच्या इतर देशी भाषा मध्यें काय चाललें आहे याकडे दुर्लक्ष करून इंग्रजी व संस्कृत साहित्य-चर्चेवरच आपण अवलंबून राहूं लागलो, या दोन भाषांत असणारी वाङ्मय समृद्धि आणि साहित्य विचार आपल्यास पुरेसा वाटून इतर देशी भाषा किंवा युरोपीय भाषा यांचा आपण विशेष परिचय करून घेतला नाही, इंग्रजी भाषेचें आणि वाङ्मयाचें आपल्यावर कितीहि ऋण असलें तरी, त्याचा एक मोठा अपकार असा झाला की इतर भारतीय भाषांशी आपण फटकून राहूं लागलो, आपला दैनंदिन परस्पर व्यवहार आपापल्या भाषांच्या द्वारें चालण्याऐवजी तो इंग्रजींतून चालूं लागला, म्हणून तिच्या शेजारील इतर भाषा शिकण्याची आवश्यकता उरली नाही, आणि संस्कृत व इंग्रजी वाङ्मय हें देशी भाषांतील वाङ्मयाच्या मानानें फारच समृद्ध असल्यानें त्यांच्याशिवाय इतर वाङ्मय वाचण्याची आवश्यकताहि वाटेनाशी झाली, निदान मराठी जनांच्या बाबतींत तरी हें असें झालें, इंग्रजी भाषा आणि वाङ्मय हीं दोन्ही देशी भाषांच्या मध्यें भिंती प्रमाणे उभीं राहिलीं, प्राचीन मराठींत अनेक संतांनी व कवींनी हिंदी मध्यहि कांही कांही रचना केली,

होता, नामदेवाचा हिंदी व पंजाबी भाषेंतील रचना प्रसिद्धच आहे, तसें अलीकडे बहुधा होत नाहीं इंग्रजांच्या प्रयोगामुळें युरोपमधील साहित्य विचार आपण अधिक जाणतो, पण आपल्या भगिनी भाषांमधील विचार घरें आपल्यास अज्ञात असतें, भारतीय जनतेंत जो भावनिक समवाय व्हावयास हवा आहे, त्याच्या दृष्टीनें ही परिस्थिति अनिष्ट व खेदकारक आहे, देशी भाषांतील वाङ्मयाचा तौलनिक अभ्यास आणि परिचय होणें ही गोष्ट अत्यंत इष्ट व आवश्यक आहे त्या भाषांमधील दुवे वाढावयास पाहिजे, व 'एकमेकां साह्य करूं' या धर्तीनें आपण या गोष्टीकडे पाहिलें पाहिजे,

डा० मनोहर काळे ह्यांनी हिंदी व मराठी वाङ्मयांतील साहित्य विचाराचा केलेला हा तौलनिक अभ्यास ह्याकरिता मला अत्यंत स्वागतार्ह वाटतो, मराठी-पुरतेंच सांगावयाचें म्हणजे—आणि मी तेवढेंच सांगू शकतो की त्यांनी एतद्-विषयक बहुतेक सारें वाङ्मय अभ्यासपूर्वक वाचून त्यांतील सारसिद्धांत योग्य प्रकारें मांडिले आहेत, व त्यावरून त्यांनी काढलेले निष्कर्षहि यथार्थ असेच आहेत, मराठी मध्ये वाङ्मयाच्या इतर शाखांविषयी झालेली चर्चा अर्थात त्यांना या प्रबंधांत घेता आली नाही, कारण त्यांनी आपल्या प्रबंधाचें क्षेत्र काव्यविचारा-पुरतेंच मर्यादित करून घातलें आहे, त्यांचा प्रस्तुत ग्रंथ हा हिंदी व मराठी साहित्याच्या समीक्षकांस फार उपयुक्त आणि मोलाचा वाटल्यावाचून राहणार नाहीं त्यांचा हा प्रयत्न या दोन वाङ्मयाच्या इतर शाखांमध्यहि असाच तौलनिक विचार होण्याच्या दृष्टीनें स्फूर्तिदायक आणि मार्गदर्शक होईल अशी आशा मी करितो

म्युनिसिपल कॉलनी,
पुणें—४
१, फेब्रुआरी, १९६३

रा० श्री० जोग

श्रद्धेय डा० नगेन्द्र को
जिनकी प्रेरणा से मैं
काव्य शास्त्र के अध्ययन
मे प्रवृत्त हुआ

प्राक्कथन

इसमे सन्देह नहीं कि भारत का प्राचीन काव्य शास्त्र विशेष समृद्ध है। अर्वाचीन काव्य शास्त्र के निर्माण मे उसका योगदान असंदिग्ध है। परन्तु साहित्य की समृद्धि के साथ साथ उसके प्राचीन सिद्धान्तों मे भी परिवर्तन और परिवर्द्धन होना सहज स्वाभाविक है। अत प्राचीन साहित्य सिद्धान्तों को ही शाश्वत और सार्वभौम सिद्ध करना एकान्त सत्य नहीं है। आधुनिक युग के साहित्य शास्त्र के निर्माण के लिए प्राचीन काव्य सिद्धान्तों का कितना महत्व और योगदान है, उसका कितना अश ग्राह्य और कितना त्याज्य है यह निर्धारित करना एक अत्यन्त जटिल किन्तु महत्वपूर्ण काम है। प्राचीन काव्य सिद्धान्तों का भारतीय दर्शन, साहित्य, मानसशास्त्र आदि की व्यापक पृष्ठभूमि पर अध्ययन, पुनराध्ययन और पुनर्मूल्यांकन करने से ही प्रस्तुत काम सम्पन्न हो सकता है और आधुनिक समृद्ध साहित्यशास्त्र के निर्माण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक भी है। इस दिशा मे हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक साहित्य शास्त्रज्ञों ने अपनी अपनी भाषा मे स्वतन्त्र रूप से काम किया है। इस शोध प्रबन्ध मे इनके विशेषत संस्कृत काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों पर अधिष्ठित अध्ययन का ही तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इससे इस विशाल देश के विद्वानों का विविध विचार-सरणियों, मान्यताओं तथा नूतन उद्भावनाओं का परस्पर परिचय प्राप्त हो सका है।

भारतीय भाषाओं मे काव्य शास्त्र के सिद्धान्तों की तात्त्विक चर्चा हिन्दी और मराठी मे जितनी व्यापक रूप मे हुई है उतनी अन्य भारतीय भाषाओं मे नहीं हुई। हिन्दी मराठी के आधुनिक काव्य शास्त्र के निर्माण के लिए दोनों भाषाओं मे इस विषय म स्वतन्त्र रूप से पृथक पृथक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। अब तक न हिन्दी मे इस दिशा मे अध्ययन काम हो सका है और न मराठी मे ही। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे न केवल हिन्दी के काव्य शास्त्र के आधुनिक समीक्षकों के अध्ययन का व्यापक रूप म समाहार हुआ है वरन मराठी के भी समृद्ध काव्य-शास्त्र के अध्ययन को यथा सम्भव सम्यक रूप से उपस्थित किया गया है। इस शोध प्रबन्ध में इन दोनों भाषाओं के काव्य शास्त्र समीक्षकों की धार-

णाओ, मन्तव्यो और अभिमतों का विवरण या सकलन मात्र नहीं है, अपितु इनके सद्धांतिक अध्ययन पर तुलनात्मक दृष्टि से भी चिंतन किया गया है और अंत में अनेक उपादेय निष्कर्ष निकाले गये हैं। संस्कृत-काव्य शास्त्र की व्यापक पृष्ठ भूमि पर इनके अध्ययन की परीक्षा करके इनके प्रतिपादन की अभिनवता, मौलिकता और उपादेयता की समीक्षा की गई है।

आधुनिक हिन्दी काव्यशास्त्र के विद्वानों में प० रामदहिन मिश्र की दृष्टि वर्तमान मराठी काव्य शास्त्र के अध्ययन की ओर उन्मुख हुई थी, किन्तु उनका अध्ययन केवल सूचनापरक ही रहा है। मिश्र जी के अध्ययन में एकांगिता होने के कारण अनेक प्रकार की भ्रांतियां भी दृष्टिगत होती हैं, जिनका उल्लेख इस शोध प्रबन्ध में यथा-स्थान कर दिया गया है।

मराठी और हिन्दी के आधुनिक काव्य-समीक्षकों ने अपने मन्तव्यों की स्थापना में अंग्रेजी-काव्य शास्त्र से जो विचार ग्रहण किये हैं, उन पर भी हमने तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने का प्रयास किया है। इस प्रसंग में इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि मूलत: दोनों भाषाओं के समीक्षक संस्कृत के काव्य शास्त्र को ही उपजीव्य मान कर चले हैं।

यह शोध प्रबन्ध सात अध्यायों में विभक्त है। अंतिम अध्याय में हिन्दी मराठी की लगभग एक हजार वर्ष की साहित्य-शास्त्र की विकास-परम्परा का ऐतिहासिक दिग्दर्शन प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल ग्रन्थों की विषय-सूची अथवा ग्रन्थकारों की नामावली मात्र प्रस्तुत करना उद्देश्य नहीं रहा है, वरन् प्रमुख साहित्यशास्त्रज्ञों के विशिष्ट दृष्टिकोण तथा उनके विवेच्य विषय के साराश को भी निरूपित किया गया है। इसमें हिन्दी-मराठी के प्राचीन तथा मध्ययुगीन साहित्यशास्त्रज्ञों तथा उनकी कृतियों का विस्तृत निरूपण नहीं किया गया है। शोध प्रबन्ध के लिए स्वीकृत विषय के अनुरूप आधुनिक साहित्यशास्त्रज्ञों की रचनाओं का ही विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। समग्र रूप से इस अध्याय में हिन्दी-मराठी के साहित्यशास्त्र के सद्धांतिक अध्ययन का अभीष्ट आधारफलक तैयार हुआ है।

शेष छ: अध्याय सद्धान्तिक अध्ययन से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक अध्याय के प्रारंभ में आवश्यकतानुरूप संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की सद्धान्तिक पृष्ठभूमि सक्षेप में प्रस्तुत की गई है। हिन्दी-मराठी के काव्य शास्त्रज्ञों का सद्धांतिक चिंतन मूलत: संस्कृत के साहित्य सिद्धांतों पर ही अधिष्ठित है। अत: इस पृष्ठभूमि की अनिवार्यता असंदिग्ध है।

रस सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन के अंतर्गत प्रथम 'भाव प्रकरण' है।

इसमे भाव, स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा सचारी भावो का अध्ययन अभिनव रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इन भावो के स्वरूप, लक्षण, वर्गीकरण तथा नये-नये प्रकारो की मीमासा सस्कृत-साहित्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य मानस शास्त्र के आधार पर विस्तार से की गई है। अनेक नवीन स्थायी भावों तथा नवीन सचारी भावो की सम्भावना पर प्रकाश डाला गया है। 'रस-स्वरूप' के विषय मे 'वस्तुवादी', 'भाववादी' तथा 'आनन्दवादी' दृष्टिकोणो का एकत्र निरूपण प्रथमत इसी शोध प्रबन्ध मे हो रहा है। एक ओर हिन्दी-मराठी के काव्य शास्त्रज्ञो द्वारा नवोद्भावित 'प्रकृतिरस', 'विषादरस', 'उदात्तरस', 'उद्धतरस', 'प्रक्षोभरस', 'क्रान्तिरस', 'देश भक्तिरस' आदि की विस्तृत समीक्षा की गई है तो दूसरी ओर परम्परागत नौ रसो मे से बीभत्स, रौद्र आदि रसो की अनुपयोगिता या निस्सारता के विषय म प्रस्तुत इनकी धारणाओ का भी तुलनात्मक अध्ययन किया गया है।

रस-स्वरूप की विभिन्नता की दृष्टि से रस एक रसास्वाद या काव्यास्वाद का तथा करुण रसानुभूति के स्वरूप का पृथक्-पृथक प्रकरणों मे विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चार-पाच शताब्दियो तक हिन्दी तथा मराठी भाषा म समान रूप से भक्ति रसात्मक काव्य-साहित्य का प्रचुर निर्माण हुआ है, अत भक्ति रस पर एक पृथक प्रकरण मे सैद्धान्तिक अध्ययन किया गया है और भक्ति रस की स्वतन्त्र प्रतिष्ठापना के गुण-दोषो की विस्तृत समीक्षा की गई है।

इस अध्याय के अन्त में रस सिद्धान्त की सीमाओ तथा न्यूनताओ का प्रथम व्यापक निरूपण किया गया है, तत्पश्चात् इसकी शक्ति और व्याप्ति का भी साधार विवेचन किया गया है जिससे इस सिद्धान्त की काव्य-मूल्यांकन की क्षमता का प्रतीति हो सके।

अलकार सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन मे सस्कृत साहित्य-शास्त्रगत अलकार विकास की पृष्ठभूमि का निरूपण करने के उपरान्त हिन्दी-मराठी के काव्यशास्त्रज्ञों की मान्यताओ के अनुरूप अलकार-परिभाषा, अलकार-स्वरूप, अलकारो की काव्यगत उपादेयता, अलकार-वर्गीकरण, अलकार-सख्या म सकोच और विस्तार का व्यापक तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इन विभिन्न अलकार विषयो के सम्बन्ध मे सस्कृत-परम्परा भिन्न अनेक अभिनव मान्यताओ और विचारो का इस अध्याय म निरूपण हुआ है। विशेषत अलकार स्वरूप, अलकार-वर्गीकरण, अलकार-सख्या-सकोच और विस्तार के विषय मे पाश्चात्यो के अलकार विषयक अध्ययन का भी हिन्दी-मराठी के समीक्षको ने उपयोग किया है, फलत इसी अध्याय मे पाश्चात्य अलकार विकास की रूपरेखा भी सम्पन्न

मे प्रस्तुत की गई है। आधुनिक काव्य साहित्य के अनुरूप आविष्कृत अनेक नवीन अलङ्कारों का भी निरूपण इस अध्याय मे किया गया है।

यद्यपि आधुनिक काव्य शास्त्रज्ञो की रीति-गुण विषयक मान्यताएँ एकान्तत परम्परा भुक्त नहीं हैं इनके चिंतन मे अभिनवता भी है, तथापि इनकी धारणाओं का संस्कृत के रीति सिद्धान्त तथा पाश्चात्य शैली (स्टाइल) तत्व के आधार पर परीक्षण करते हुए तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भारतीय रीति सिद्धान्त में कवि-व्यक्तित्व का महत्व-मापन पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। पाश्चात्य शैली (स्टाइल) तत्व मे कवि व्यक्तित्व को जैसी महत्व प्रतिष्ठा है, वैसा भारतीय रीति सिद्धान्त मे भी गुण तत्व के पुनराख्यान से पूर्णत सम्भव है इस तथ्य का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। हिन्दी-मराठी के समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत भारतीय रीति और पाश्चात्य शैली (स्टाइल) तत्व के पारस्परिक साम्य वैषम्य का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वामन के रीति सिद्धान्तगत कतिपय तत्वों का पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रीय तत्वों से साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन भी इसी अध्याय के अन्तर्गत आ गया है। अन्त में रीति सिद्धान्त की सीमा शक्ति का निरूपण करते हुए इस सिद्धान्त की काव्य मूल्यांकनगत उपादेयता का समीक्षण किया गया है।

ध्वनि सिद्धान्त का मूलभूत आधार है—शब्द शक्ति। संस्कृत के आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा व्यंजना आदि शब्द शक्तियों मे व्यंजना या ध्वनि को एकान्त महत्व प्रदान किया है और उसी मे काव्यत्व की स्थिति निर्धारित की है। यद्यपि हिन्दी-मराठी के समीक्षकों ने शब्द शक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन का बहुत कम प्रयत्न किया है तथापि ध्वनिवाद की प्रतिक्रिया आधुनिक समीक्षकों मे दो रूपों मे हुई है। कतिपय समीक्षकों ने व्यंग्यार्थ की अपेक्षा मूलत वाच्यार्थ मे काव्यत्व मानना अधिक संगत ठहराया है तो कतिपय वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ तीनों में ही रसानुभूति को पूर्ण सम्भव मानते हैं। काव्य का आत्म पद पाने मे ध्वनि तथा रस का द्वन्द्व कहाँ तक वास्तविक है? काव्यत्व की दृष्टि से इन दोनों का क्या महत्व है? ध्वनि काव्य का साध्य है अथवा साधन है? इत्यादि तात्विक प्रश्नों का हिन्दी मराठी के समीक्षकों की मान्यताओं के आधार पर विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। अन्त मे ध्वनि तत्व की काव्यगत उपादेयताओं का भी प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य वामन के रीति सिद्धान्त की भाँति कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त का सम्बन्ध भी प्रायः काव्य की बाह्य अभिव्यक्ति पद्धति से रहा है। हिन्दी मराठी के समीक्षकों ने 'वक्रोक्ति' को अलङ्कार रूप मे तथा अभिव्यक्ति पद्धति के रूप मे

व्यापक समीक्षा की है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुंतक के वक्रोक्तिवाद का भी इसी अध्याय में साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन अत्यंत विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति तत्व को वर्ण तथा पद से आरम्भ करके प्रबन्ध काव्य तक व्याप्त कर दिया है। ऐसी स्थिति में वक्रोक्ति को 'काव्य-जीवित' क्या न स्वीकार कर लिया जाय ? इस महत्वपूर्ण प्रश्न का हिंदी-मराठी के समीक्षकों के विभिन्न मतों के आधार पर व्यापक समाधान प्रस्तुत किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध का छठा अध्याय औचित्य सिद्धान्त के तुलनात्मक अध्ययन से सम्बद्ध है। इस सिद्धांत की समीक्षा संस्कृत-साहित्य शास्त्र में ही अधिक नहीं हो सकी है। फलतः आधुनिक हिंदी-मराठी के समीक्षकों ने भी इसका व्यापक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। फिर भी औचित्य को काव्य का आत्म-तत्व मानना कहाँ तक संगत है ? औचित्य की काव्य में वास्तविक स्थिति क्या है ? सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से औचित्य का क्या महत्व है ? औचित्य सिद्धान्त का जीवन और कला के क्षेत्र में क्या योगदान है ? इत्यादि प्रश्नों का हिंदी-मराठी के समीक्षकों के मतों का विस्तृत निरूपण करते हुए समाधान प्रस्तुत किया गया है। अन्त में औचित्य सिद्धान्त की सीमाओं तथा शक्तियों का विवेचन करते हुए इस तत्व की काव्य-गत वास्तविक स्थिति का निर्धारण किया गया है।

इस प्रकार हिंदी-मराठी के काव्यशास्त्रों की रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धांत से सम्बद्ध विभिन्न धारणाओं, मान्यताओं तथा अभिमतों का तुलनात्मक अध्ययन काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक अभिनव विनम्र प्रयास है। इससे काव्यशास्त्रगत अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन जटिल प्रश्नों का सहज समाधान उपलब्ध हो सका है।

काव्यशास्त्र के प्रस्तुत सैद्धांतिक तुलनात्मक अध्ययन में मैं 'अंतिम निर्णय' देने से प्रायः बचता रहा हूँ। मेरी अल्प मति में कम से कम सैद्धांतिक चिंतन में तो शाश्वत और अंतिम सत्य का निर्धारण वस्तुतः नितान्त कठिन ही नहीं असम्भव-सा है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में पूर्वाग्रह से मुक्त रहने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। संस्कृत के रस ध्वनिवादी आचार्यों का दृष्टिकोण अपनाकर 'रस', 'अलंकार' तथा 'रीति' आदि के सम्बन्ध में प्रस्तुत आधुनिक हिंदी-मराठी-लेखकों के विभिन्न दृष्टिकोणों की प्रत्यालोचनाएँ की जा सकती थीं। परन्तु इस शोध-प्रबन्ध का प्रयोजन संस्कृत-साहित्यशास्त्र के सिद्धांतों में से किसी एक को रस-ध्वनिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण से ही शाश्वत महत्ता सिद्ध करने का नहीं रहा है। परिणामतः प्रस्तुत प्रबन्ध में विभिन्न दृष्टियों, चिंतन प्रकारों तथा मान्यताओं

शुक्ल जी ने इस वर्गीकरण में 'मनोविज्ञानियों' का एकांत अनुसरण नहीं किया है।[1]

शुक्ल जी के मत में शीलदशा की उपयोगिता मुक्तक काव्यों की अपेक्षा मनुष्य प्रकृति का संस्कार परिष्कार करने में समर्थ उच्च ध्येय पूर्ण प्रबंध काव्य या नाटकों में विशेष रूप से देखी जा सकती है। महाकाव्यों तथा नाटकों में चरित्र चित्रण का आधार शीलदशा ही है। आलंबन का स्वरूप संघटित करने में उपादान होकर शीलदशा रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है तथा आलंबन के आभ्यंतर स्वरूप की योजना भिन्न भिन्न शील से ही होती है। अंत में शुक्ल जी ने गोस्वामी तुलसीदास की विनयपत्रिका से उदाहरण प्रस्तुत कर 'राम की शीलदशा' की काव्यगत उपयोगिता पर प्रकाश डाला है।

डा० नगेन्द्र ने स्थायीभावों का पाश्चात्य मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' से साम्य-वैषम्य दिखाने से पूर्व भावों के मौलिक मनोविकार (Primary emotion) व्युत्पन्न मनोविकार (Derived emotion) तथा मनोवृत्ति (Sentiment) के स्वरूप का निरूपण किया है। इनके मतानुसार संस्कृत-साहित्यशास्त्र

एक अवसर पर एक आलंबन के प्रति भावदशा	अनेक अवसरों पर एक आलंबन के प्रति स्थायी दशा	अनेक अवसरों पर अनेक आलंबनों के प्रति शीलदशा
राग	रति	स्नेहशीलता, रसिकता, लोभ, तृष्णा, लंपटता।
हास	(अनभिधेय)	हँसोड़पन, विनोदशीलता
उत्साह	—	वीरता, तत्परता
आश्चर्य	(अनभिधेय)	भौंचक्कापन
शोक	संताप	खिन्नता
क्रोध	वैर	क्रोधशीलता, उग्रता, चिड़चिड़ापन
भय	आशंका	भीरुता
जुगुप्सा	विरति	तुनकमिजाजी

१ 'मनोविज्ञानियों ने 'स्थायीदशा' और शीलदशा के भेद की ओर ध्यान न दे कर दोनों प्रकार की मानसिक दशाओं को एक ही में गिना दिया है'—वही, पृ० १८७

ये रति आदि नौ स्थायीभाव एकान्ततः मानसशास्त्र के न मौलिक मनोविकार हैं और न व्युत्पन्न मनोविकार ही। शान्त का स्थायीभाव 'शम' तथा अद्भुत का स्थायी भाव 'विस्मय' मौलिक मनोविकार में नहीं रखे जा सकते, क्योंकि एक में बुद्धितत्व का प्राधान्य है तो दूसरा स्पष्टतः ही मिश्र भाव है। दूसरी ओर सभी स्थायीभाव व्युत्पन्न मनोविकार के अन्तर्गत भी नहीं रखे जा सकते, क्योंकि इनमें कतिपय स्थायीभावों—भय, क्रोध आदि—को मानसशास्त्र मौलिक मनोविकार मानता है न कि व्युत्पन्न मनोविकार। फलतः स्थायी भाव एकान्ततः न मौलिक मनोविकार है और न व्युत्पन्न मनोविकार ही। जहाँ तक इनके मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' से साम्य का प्रश्न है, डा० नगेन्द्र की मान्यतानुसार दोनों में निम्नलिखित साम्य-वैषम्य उपलब्ध होता है—

समता–(१) मनोवृत्ति (सेंटिमेंट) की भाँति स्थायीभाव भी अन्य (संचारी) भावों की अपेक्षा स्थायी होता है।

(२) मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायीभाव एक मनोदशा है, जिसमें अन्य भाव संचरण करते रहते हैं।

विषमता—परन्तु दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी है—

(१) मनोवृत्ति एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है मनोवृत्ति स्वयं का नहीं। उदाहरण के लिए प्रेमभक्ति का आस्वादन कभी नहीं होता उसके आश्रित या संचारीभाव उत्साह आदि का ही होता है परन्तु स्थायी के विषय में यह बात नहीं है, उसका संचारी ही नहीं वह स्वयं भी समग्रतः आस्वाद्य है। मनोविकार का कारण है स्वयं मनोविकार नहीं है, परन्तु भय स्वयं ही मनोविकार है।

(२) मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति में बनती जाती है परन्तु स्थायीभाव के विषय में यह सत्य नहीं है। रूप की आवृत्ति करते रहिये पर वह रति नहीं बन पायगा।

(३) मनोवृत्ति सदैव विचारमूलक है, परन्तु स्थायीभाव (शम को छोड़ कर) विचारमूलक नहीं—प्रवृत्तिमूलक ही है।[1]

डा० राकेशगुप्त ने भी भारतीय 'स्थायीभाव' तथा पाश्चात्य मानसशास्त्रीय

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ७२-७३

'सेंटिमेंट' की स्वरूप भिन्नता का ही स्पष्टत प्रतिपादन किया है और दोनो का पारस्परिक सबध स्थापन असगत ठहराया है।[1] डा० गुलाबराय ने रसो का सामान्य मनोवेग (इमोशन) से सम्बन्ध दिखाते हुए रस और मनोवेग का साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन किया है और मनोवेग के मूल मे निहित सहज प्रवृत्तियो (इन्स्टिक्ट्स) से स्थायीभावो का सम्बन्ध स्थापित किया है। 'स्थायीभाव और सहज प्रवृत्तिया' के प्रसग मे इनके एतद्विषयक विचारो का निरूपण आगे किया जाएगा।

श्री रामनन्दिनि मिश्र का स्थायीभाव तथा सेंटिमेंट विषयक अध्ययन मराठी के लेखको—विशेषत डा० के० ना० वाटवे, प्रा० रा० श्री० जोग—के अध्ययन पर आधारित है। कई स्थलो पर उनका अपूर्ण अनुवाद मात्र है। अत इनका स्थायी भाव और सेंटिमेंट विषयक अध्ययन अधिक अस्पष्ट है, इस विषय मे इनका सुनिश्चित अभिमत व्यक्त नही हो सका है।[2] मराठी के लेखको का स्थायी और सेंटिमेंट से सम्बद्ध अध्ययन पढने से श्री मिश्रजी का एतद्विषयक निरूपण स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है।

सारांश

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्थायीभावो तथा स्थिरवृत्तियो (सेंटिमेंट्स) को समरूप न मान कर पृथक स्थायी दशाओ की कल्पना की है। इन्होने परपरागत रति स्थायीभाव को ही स्थायीदशा के अतर्गत माना है और इसके मूल मे राग नामक भाव की अभिनव कल्पना की है। डा० नगेन्द्र ने स्थायी भाव और स्थिरवृत्ति मे साम्य दिखाते हुए भी दोनो को एकात समझने का प्रत्याख्यान किया है। इसी प्रकार डा० राकेश गुप्त के मत मे भी स्थायीभाव और

1 for otherwise there is nothing common in the conception of sentiment and that of a Sthayi bhava A Sthayi bhava is a latent impression in the mind of the perceiver and is called forth when he perceives a poetic phenomenon Suggesting that particular mental state with the help of the vibhavas etc, a sentiment is a latent feeling of attachment of particular idea existing a particular emotion with a definite objective phenomenon it cannot be linked with sentiment
Psychological studies in Rasa P 129

२ काव्यदर्पण पृ० १४७-५१

सेंटिमेंट एकरूप नहीं हैं। डा० गुलाबराय स्थायी भावों का सम्बन्ध सेंटिमेंट्स से नहीं, वरन् 'सहज प्रवृत्तियों' (इंस्टिंक्टस) से मानते हैं।

स्थायीभाव और स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट)

मराठी में

हिंदी की भांति मराठी के आधुनिक समीक्षकों ने भी स्थायी भावों का मानसशास्त्र के आधार पर व्यापक अध्ययन किया है। मराठी के समीक्षकों में भाव के स्वरूप के विषय में जैसा मत-वैविध्य है वैसा ही स्थायीभाव और स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) के साम्य तथा वैषम्य के विषय में है। स्थायीभाव और स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) का साम्य-वैषम्यमूलक अध्ययन डा० के० ना० वाटवे, श्री द० के० केळकर, श्री रा० श्री० जोग श्री दि० के० बेडेकर, डा० रा० दा० वाळिंबे, डा० सुरेन्द्र बारलिंगे आदि ने प्रस्तुत किया है। इनमें डा० के० ना० वाटवे के अतिरिक्त शेष सभी समीक्षक रस सिद्धान्त के स्थायीभाव और मानसशास्त्र की स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) में साम्य-स्थापन सर्वथा अनुपयुक्त समझते हैं। अतः प्रथम डा० वाटवे की एतद्विषयक स्थापनाओं का विस्तृत निरूपण आवश्यक हो जाता है।

डा० के० ना० वाटवे ने स्थायीभाव और सेंटिमेंट में एकांत साम्य-स्थापन से पूर्व दोनों के पारस्परिक अंतर का भी स्पष्टीकरण कर दिया है और इस अंतर को महत्वहीन सिद्ध करने का सयुक्तिक विवेचन किया है। इनके अनुसार स्थायीभाव और सेंटिमेंट में पारस्परिक भिन्नता इस प्रकार है—

१ संस्कृत के आचार्य स्थायीभावों को परिनिष्पन्न 'उपजत (जन्मजात) स्वयंसिद्ध और अविनाशी' मानते हैं जब कि मानस शास्त्र सेंटिमेंटस' को संपादित (अरजित) विकासशील और यहां-वहां ह्रासशील मानते हैं।

२ संस्कृत के साहित्यशास्त्र में सहृदयगत स्थायीभावों का ही उल्लेख है, काव्यगत पात्रों के स्थायीभाव का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत मानसशास्त्र काव्यास्वादकालीन सहृदयगत 'सेंटिमेंट' की स्थिति और स्वरूप का विवेचन नहीं करता। अधिक से अधिक काव्यगत पात्रों में सेंटिमेंट की स्थिति का यहां निरूपण मिलता है।

उपर्युक्त दोनों शंकाओं का डा० वाटवे के अनुसार समाधान इस प्रकार है—

अभिनवगुप्त के मत में सहजप्रवृत्ति (Instinct) का घटक ही मुख्य रूप से होगा, अतः उन्होंने स्थायीभाव को परिनिष्पन्न कहा है। अभिनवगुप्त

इस विषय म तीन शब्दो का प्रयोग करते हैं—'वासना', 'संविद' और 'चित्त-वृति'। वासना से उनका अभिप्राय Instinct अथवा Appetitem रहा होगा और संविद् ' से Concrete general Sentiment तथा चित्तवृति का अभिप्राय Mental Condition से होगा। समृद्ध मानसशास्त्र के अभाव म इस प्रकार का वर्गीकरण और भेद करना कठिन था अत उनके विवेचन म दोष दिखाई देता है फिर भी सामान्य रूप म उपयुक्त प्रतिपादन उपयुक्त समझा जाना चाहिए।

वासना, संविद् और चित्तवत्ति शब्द अभिनवगुप्त के मतानुसार स्थायी-भाव के वाचक हैं। उनके अनादि वासना स्वरूप म वे 'उपजात' (जन्मजात) और परिनिष्पन्न होते हैं परन्तु स्थायीभाव केवल सहजप्रवत्तिरूप अथवा अनादि वासनारूप मात्र नहीं है। क्योंकि प्राय सभी का मत है कि स्थायीभाव रूप स्थिरवृत्ति के चारो ओर स्तर द्वितीय प्रकार की भावनाएँ एकत्रित होकर उसका परिपोष करता हैं। केवल Instinct के विषय म भी ऐसा सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं केवल Emotion (प्राथमिक भावना) भी Sentiment नहीं है। सारांश स्थिरवत्ति (Sentiment) की रचना उसके घटकों की सूक्ष्म छान-बीन करना पहले कठिन था अत उसके उपजतवत्ति के स्वरूप की ओर ध्यान देकर अभिनवगुप्त ने उसे परिनिष्पन्न माना है। इस प्रकार प्रथम शंका का समाधान हो जाता है। संस्कृत साहित्यशास्त्रकारो की सामान्य धारणा पर ध्यान देने से इस विषय म शंका के लिए स्थान ही नहीं रह जाता कि उनका स्थायी भाव' से अभिप्राय Sentiment से ही है।[१]

स्थायीभाव की भांति सेंटिमेंट का भी व्यक्तिगत मानने म मानसशास्त्र का विशेष विरोध नहीं है। संस्कृत म भी अभिनवगुप्त के वचन—'जात एव हि जन्तु इयतीभि संविद्भि परीतोभवति' के आधार पर स्थायीभाव को पात्रगत, कविगत और रसिकगत मानने म आपत्ति नहीं आती। भट्टलोल्लट, शंकुक और

१ वासना सर्वेषां अनादिवासना चित्रीकृतचेतसा वासना सयादात (अभि-नवभारती प्र० स० पृ० २८१)

संविद्—जात एव हि जन्तु इयतीभि संविद्भि परीतो भवति (अभिनव भारती प्र० स० पृ० २८४

चित्तवृत्ति—'नहि एतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्य प्राणी भवति'

केवल कस्यचिन् काचिदधिका चित्तवृत्ति', काचिदूना' वही पृ० २८४ —रसविमर्श पृ० ११५

भट्टनायक काव्यगत पात्रों में स्थायीभाव की स्थिति का निर्देश कर चुके हैं। नाट्य दर्पण में 'रस' को काव्यगत और रसिकगत उभयविध माना गया है।

मक्डूगल, प्रा० शावल्स आदि मानस शास्त्रियों ने स्थिरवृत्ति के दो वर्ग बनाए हैं, एक मूर्त वस्तु विषयक (Concrete) और दूसरा अमूर्त वस्तु विषयक (Abstract)। मूर्त वस्तु विषयक स्थिरवृत्ति के भी मूर्त जाति विषयक (Concrete general) और मूर्त व्यक्ति विषयक (Concrete particular) दो प्रभेद किये हैं। इनमें मूर्त जाति विषयक स्थिर वृत्ति सामान्यतः सहजात, सर्वसामान्य है, परन्तु रसिक निष्ठ मानने में मानस शास्त्र को आपत्ति नहीं है। अर्थात् मूर्तजाति विषयक स्थिरवृत्ति मन में दृढ़ होने के लिए किसी का भी—चाहे वह रसिक, कवि, काव्यस्थ नायक या प्रेक्षक कोई भी हो—मूर्तव्यक्ति विषयक स्थिरवृत्ति का पूर्वानुभव अपेक्षित है।

एक अन्य दृष्टि से भी मानसशास्त्र में रसिकगत स्थिरवृत्ति का संकेत मिल जाता है। मानसशास्त्र में काव्यानंद के विवेचन में 'वासना नियन्त्रण सिद्धान्त' (Repression Theory) है। इसमें पाठक के काव्य-अध्ययन-जनित आनंद का विवेचन करते हुए कहा गया है कि उसके मन में प्रेम, क्रोध, भ्रांति इत्यादि भावनाएँ सुप्त अथवा परिस्थिति नियन्त्रित होती हैं। इन दमित वासनाओं में 'सेंटिमेंट' (Sentiment) का समावेश तो होता ही। काव्यानंद की क्रीडापपत्ति (Play theory) और मानसशास्त्रोक्त 'एम्पथी' (Empathy) नामक तन्मयावस्था में "रसिकगत स्थिरवृत्ति' (Sentiment) को मान्यता प्राप्त ही है।

इस प्रकार 'स्थायीभाव' और 'सेंटिमेंट' के पारस्परिक वैषम्य का निर्दिष्ट करने वाली शंकाओं का समाधान करने के उपरान्त डा० नाटव ने दोनों के पारस्परिक नितांत साम्य का प्रतिपादन भी मानसशास्त्र के आधार पर ही करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने भावनाओं के प्राथमिक (Primary), संमिश्र (Blended) और साधित (Derived) तीन रूपों का निरूपण किया है। इनमें प्राथमिक भावना का सम्बन्ध किसी न किसी प्रमुख सहजप्रवृत्ति (Instinct) से माना है क्योंकि वे विशिष्ट विषय को देखने अथवा चिंतन से मन में सहसा उद्भूत होती हैं। बुद्धि एक स्वतन्त्र शक्ति है, इसी शक्ति से कार्य प्रेरणा का निर्माण होता है। प्राथमिक भावनाओं का ही वृत्ति अथवा स्थिरवृत्ति बन सकती है, क्योंकि वे स्पष्ट विचार तथा स्थिर रहनेवाली (Enduring) होती हैं। उनसे कार्य प्रेरणा (Conation) होती है। संक्षेप में स्वतन्त्र, श्रेष्ठ और

कार्योन्मुख होती हैं। इन्ही भावनाओ का उद्दीपन पुन-पुन किसी विशिष्ट विषय द्वारा होने पर इतर (Secondary) भावनाएँ उनके चारो ओर जमने लगता हैं और इन्ही की स्थिरवृत्ति बनती हैं, ये ही स्थायीभाव है। डा० वाटवे ने स्थायीभाव' और स्थिरवृत्ति (Sentiment) मे साम्य प्रदर्शन के लिए निम्न हेतु भी दिये हैं—

१ स्थिरवृत्ति म एक ही प्राथमिक भावना अत तक रहती है और उसमें इतर द्वितीय प्रकार की भावनाएं गुम्फित होती है इसी को अभिनवगुप्त ने 'सूत्र-मणि' के दृष्टान्त म सिद्ध किया है।

२ यद्यपि प्राथमिक भावनाए स्थिर होती है और इन पर इतर भावनाओ की लहरें टकराती हैं फिर भी वे मूल भावनाए नष्ट नही होती बल्कि उन इतर भावनाओ को आत्मसात कर लेती है। इस विषय म धनजय का सागर कल्लोल दृष्टान्त कितना समर्पक है। तरगें और सागर जलरूप होते हैं, इसी प्रकार प्राथमिक और द्वितीय कोटि की भावनाए भावरूप ही होती हैं। प्रेम की अवस्था म अविरोधी प्रेम आशा इत्यादि सजातीय और जुगुप्सा क्रोध दु ख इत्यादि विजातीय भावनाओ की तरगें यद्यपि प्राथमिक भावना के सागर म उछलती रहती है फिर भी प्रेम' हर प्रकार से उन्हें आत्मसात कर ही लेता है। वे तरग समुद्र में ही विलीन हो जाती हैं इसी प्रकार उन भावनाओ का प्रेम म ही पर्यवसान होता है।[१]

३ स्थिरवृत्ति की प्राथमिक भावना विषय के दर्शन से अथवा चिंतन से उद्दीप्त होती है सस्कार म सुप्त रहती है और सहजप्रवृत्ति के रूप म चित्त म सतत विद्यमान रहता है।

४ मनुष्यो म जैसे राजा वैसे ही प्राथमिक भावना इतर द्वितीय भावनाओं से श्रेष्ठ होती है और वह जन्म तथा गुण से भी श्रेष्ठ होती है। प्राथमिक भावनाओ की स्वतन्त्र शक्ति होती है उनम इतर भावनाओ को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति होती है और उनका स्वतन्त्र ध्येय होता है, फलत आनन्द, दु ख आशा, निराशा, किंवा जैसी भावनाएँ सदैव उनकी सहायक बन कर रहती हैं

५ काव्य म मुख्य आस्वाद्य भावना प्राथमिक भावना ही होती है, अत उसी की मुख्य रूप से चर्वणा होती है। इस चर्वणा म इतर भावनाओ की मिठास क

---

१ विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न य ।
आत्मभाव नयत्यन्यान स स्थायी लवणाकर ॥ (द रू ४ ३४)

भी किचिन सम्मिश्रण रहता है, परन्तु मुख्य रस बनना है प्राथमिक भावनाओं का ही।[1]

विवेचन

स्थायी भाव और स्थिरवृत्ति (Sentiment) का स्वरूप

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भरतमुनि ने जिन आठ स्थायी भावों का निरूपण किया है, क्या वे आठों स्थायीभाव १९ वीं शताब्दी में विकसित मनोविज्ञान के एक भावात्मक तत्त्व 'स्थिरवृत्ति' (सेंटिमेंट) में पूर्णत समता रखते हैं? क्या 'सेंटिमेंट' और स्थायीभाव के एकीकरण से स्थायीभाव का मूल स्वरूप स्पष्ट हो सकता है? प्रस्तुत समीकरण में रस सिद्धान्त में व्यापकता या मनोवैज्ञानिकता आ सकती है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान ढूँढने के लिए कुछ विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

जहां तक स्थायीभाव का भरतमुनि के अनुसार स्पष्टीकरण है वह इस प्रकार है—'जिस प्रकार रूप समान हाथ-पैर उदर रखने वाले समान लक्षणों से युक्त पुरुष कुल शील, विद्या, कर्म, शिल्प विचक्षणता के कारण राजा बन जाते हैं और दूसरे अल्प बुद्धि के मनुष्य उनके अनुचर होते हैं इसी प्रकार विभाव अनुभाव, तथा व्यभिचारी भाव स्थायीभावों के आश्रित होते हैं, अत स्वामीतुल्य स्थायी भाव होते हैं और अन्य भाव सेवक रूप हैं। इन्हीं विभाव, अनुभाव सचारीभावों से घिरा हुआ स्थायी भाव ही रस सज्ञा को प्राप्त होता है[2]

भरतमुनि की स्थायीभाव सम्बन्धी मान्यता पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने अभिनव गुप्त के मतानुसार स्थायी भाव का कहीं भी वासना, संविद् या चित्तवृत्ति आदि विशिष्ट शब्दों द्वारा विवेचन नहीं किया है। उन्होंने इसे भाव रूप ही माना है—'रतिनाम आमोदात्मको भाव[3]। रति आदि भाव ही हैं परन्तु वे स्थायी इसलिए कहलाते हैं कि वे स्वामी रूप हैं और विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव सेवक रूप हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान में मानसशास्त्रियों ने 'सेंटिमेंट' की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। सामान्यत किसी विशिष्ट व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति के प्रति मन में किसी प्रकार का भाव बार-बार उठता है, तब वह 'सेंटिमेंट' का रूप धारण कर

---

१ रसविमर्श, पृ० ११८ ११९।

२ दे० नाट्यशास्त्र, अ० ७, श्लोक ७ के उपरान्त का गद्य भाग

३ वही, ७-८

लेता है उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति के प्रति मन में क्रोध की भावना बार बार उत्तेजित होता है तब वह भावना बैर का रूप धारण कर लेता है जिसे सटिमेंट कहा जा सकता है। मानसशास्त्रज्ञ मैक्डूगल का मत है— भावात्मक संस्कारों का संगठित प्रक्रिया का नाम स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) है जो किसी वस्तु की प्रतीति पर केन्द्रित रहती है।[1] वुडवर्थ ने भी लगभग इसी प्रकार का स्पष्टीकरण किया है मनोविज्ञान में इस शब्द (सेंटिमेंट) का प्रयोग किसी वस्तु व्यक्ति अथवा परिस्थिति के प्रति अनुभूति की अवस्था में निर्माण होने वाली मिश्रित भावात्मक वृत्ति के अर्थ में होता है।[2] स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) के मन में प्राथमिक Primary और मिश्रित (Blended) भावनाएं होती हैं तथा उन्हीं का एक संघटित रूप सेंटिमेंट है। इसी आशय को ए० जा० टेवर ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है— कतिपय विषय व्यक्ति और आदर्शों के प्रति हम मौलिक और मिश्रित दोनों प्रकार के भावों का अनुभव करते हैं जिनमें विशिष्ट विषय और व्यक्ति के प्रति हमारे सहज संस्कारों का एक सुनिश्चित सुसंगठित रूप बन जाता है जिसे मनोविज्ञान में सेंटिमेंट कहा जाता है।[3]

मानसशास्त्रज्ञों ने सेंटिमेंट या स्थिरवृत्ति की जननी सहजप्रवृत्तियां (इंस्टिंक्ट्स) को माना है। इस प्रकार की स्थिरवृत्ति के निर्माण में अनेक प्रकार की सहज प्रवृत्तियां सहायक होती हैं। उदाहरणार्थ अपने घर के प्रति निर्मित स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) में संग्रह या संचय प्रवृत्ति (Hoarding Instinct) और आत्मसम्मान (Assertion) की प्रवृत्तियां काम करती हैं। मैक्डूगल महोदय ने स्थिरवृत्ति के निर्माण के मूल में सहज प्रवृत्तियों को आधार स्वरूप माना है। सहज प्रवृत्तियां (Instincts) ही स्थिरवृत्ति की जननी हैं। सहजप्रवृत्तियों

---

1 A sentiment is an organised system of emotional dispositions centered about the idea of some object. Social psych. p. 137

2 This term is used in psychology to refer to any complex emotional attitude built up in the course of experience. psych. W. p. 304

3 We tend to experience both primary and blended emotions in connection with certain objects and persons and ideas and this points to a definite and systemetic organization of instinctive dispositions around the objects and persons of a very special kind. Such organizations are called sentiments. (Teaching Psychology Changing outlook p. p. 68-9)

और उनकी सहचर भावनाओं को प्राथमिक (Primary) भावना कहा जाता है। मैक्डूगल ने १४ सहज प्रवृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) तथा उनकी अनेक सहचर भावनाओं का निरूपण किया है। डा० वाटवे ने मैक्डूगल के 'भावों' के मानसशास्त्रीय विवेचन का आधार लेकर 'रति' आदि स्थायीभावों को स्थिरवृत्ति' ('सेंटिमेंट') निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। जहाँ तक 'स्थायी' और 'सेंटिमेंट' के साम्य का प्रश्न है, यह इस तथ्य पर आधृत है कि 'स्थायी' का तात्पर्य 'स्थिर' और परिपुष्ट भाव है तथा 'सेंटिमेंट' भी एक 'स्थिर' भाव है, जिसे अनेक सहज प्रवृत्तियाँ (इन्स्टिंक्ट्स) के संस्कार या भाव परिपुष्ट करते हैं। उदाहरणार्थ 'देश-प्रेम' की स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) में विदेशियों से द्वेष, स्वदेशापकारकों में प्रेम, देशोन्नति पर आनन्द और उसके अपकर्ष पर खेद आदि सहचर भावनाएँ देशप्रेम' रूप स्थिरवृत्ति (सेंटिमेंट) को परिपुष्ट और स्थिर बनाती हैं। सेंटिमेंट या स्थिरवृत्ति के मूल में स्थित सहज प्रवृत्तियाँ (इन्स्टिंक्ट्स) और उनकी सहचर भावनाएँ भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित संचारी भावों के सदृश प्रतीत होने लगती हैं, परन्तु पाश्चात्य सेंटिमेंट (स्थिरवृत्ति) का भारतीय काव्यशास्त्र के स्थायी भाव के समकक्ष प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः स्थायी भाव और पाश्चात्य मनोविज्ञान के सेंटिमेंट में साम्य का आभासमात्र है मौलिक साम्य नहीं है। क्योंकि रति आदि स्थायी भावों के विषय में संस्कृतसाहित्यशास्त्र में विभिन्न स्पष्टीकरण हैं, भरतमुनि के मत में 'स्थायी रूप' विशिष्ट शक्ति सम्पन्न भाव स्थायी है जो विभाव, अनुभाव और संचारियों से परिवृत्त रहते हैं। संचारी भावों से परिवृत्त स्थायीभाव ही 'रस' बन जाता है। भरतमुनि की रस-व्याख्या मनोविज्ञान के 'सेंटिमेंट' के नितान्त सदृश प्रतीत होने लगती है, क्योंकि 'सेंटिमेंट' भी अनेक सहचर भावनाओं से आवृत्त रहता है रस रूप को प्राप्त स्थायी भाव भी अनेक संचारियों से आवृत्त रहता है। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने रति आदि स्थायी भावों के जन्मजात होने अथवा अनुभवसम्प्राप्ति (Acquired) होने का स्पष्टीकरण नहीं किया है, उन्होंने रत्यादि स्थायी भावों को भी भाव रूप ही माना है— 'रतिर्नाम आमोदात्मको भाव'[१]। परन्तु अभिनव गुप्त ने रत्यादि स्थायी भावों को 'जन्मजात', 'वासनारूप' से स्थित सिद्ध किया है। फिर डा० वाटवे ने अभिनव गुप्त प्रयुक्त 'वासना', 'संविद्' और 'चित्तवृत्ति' शब्दों का अर्थ आधुनिक मनोविज्ञान के अनुरूप स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यहाँ दो मूल प्रश्न उपस्थित होते हैं—

---

१ ना० शा० ७—८९

१ क्या संचारियों से परिवृत्त स्थायी के परिपुष्ट रूप—'रस'—को मनोविज्ञान के 'सेंटिमेंट' (स्थिरवृत्ति) के अनुरूप समझा जाय ?

अथवा

२ मूलतः रति आदि भाव रूप स्थायी को ही 'सेंटिमेंट' माना जाय ?

संस्कृत काव्यशास्त्र में स्थायीभाव और रसों का विवेचन मनोविज्ञान के 'सेन्टिमेंट' से नितान्त भिन्न है। दोनों में साम्य-स्थापन के लिए संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भिन्न अर्थ में स्पष्टीकरण के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ही नहीं था, फलतः डा० वाटवे ने 'वासना' 'संविद' आदि शब्दों का अपनी मान्यता के अनुकूल अर्थ परिवर्तन का प्रयत्न किया है। उन्होंने वासना को सहज प्रवृत्ति और स्थायी को 'सेंटिमेंट' सिद्ध करते हुए यह भी स्वीकार कर लिया है कि यद्यपि सेंटिमेंट के मूल में बीज रूप से सहज प्रवृत्तियाँ होती हैं और ये जन्मजात होती हैं अतः व्यावहारिक दृष्टि से 'सेंटिमेंट' को भी सहजात मानने में कोई अनौचित्य नहीं है।[1] जब सहज प्रवृत्तियों और उनकी सहचर भावनाओं के आधार पर स्थायी भावों का प्रासाद 'सेंटिमेंट' के रूप में खड़ा करने का प्रयत्न किया जाने लगा तो रति स्थायी के बाद 'शोक' को स्थायी भाव सिद्ध करने की कठिनाई अनुभव होने लगी— इस दृष्टि से करुण रस के विषय में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। करुण रस का स्थायी भाव 'शोक' प्राथमिक भावना (Primary) रूप नहीं है। शोक साधित (Derived) भावना अर्थात् संचारी है। तब प्रश्न है कि प्रस्तुत संचारी भावना को रसत्व कैसे प्राप्त होता है?[2] डा० वाटवे ने 'शोक' को स्थायी सिद्ध करने के लिए तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं—(क) 'शोक' भावना आस्वाद्यता की कसौटी पर पूरी उतरती है अतः उस साधित (Derived) भावना को भी स्थायी माना जाय। (ख) वास्तविक 'शोक' में माधुर्य आने का कारण चिरवियुक्त व्यक्ति पर निहित प्रेम है, अतः शृंगार, वात्सल्य इत्यादि भावनाओं का स्थायी भाव संक्रमित होकर 'शोक' में आ जाता है।

(ग) करुण भावना के रसत्व सिद्ध करने का एक अन्य मार्ग है, वह है सहानुभूति का। मैक्डूगल ने इस भावना का सम्बन्ध मधवृत्ति से स्थापित किया है और उसे प्राथमिक कहा है। उसमें कोमल भावनाओं का समावेश होता है।

---

१ रस विमर्श पृ० ११६

२ वही पृ० २४८

इस प्रकार दूसरो के दुःख मे दुःखी होना एक सहानुभूति का प्रकार है और इसमे 'शात' का समावेश किया जा सकता है।'[1]

डा० वाटवे के उपर्युक्त तीनो हेतुओ का प्रा० द० के० केळकर ने सयुक्तिक प्रत्याख्यान किया है और मूलभूतता की कसौटी को अपर्याप्त ठहराते हुए लिखा है—"मूलभूत भावना अर्थात् स्थायीभाव और साधित भावना अर्थात व्यभिचारी भाव, इस प्रकार का वर्गीकरण मैक्डूगल ने नही किया और यह उसका उद्देश्य भी नहीं था उन्होने भावनाओ का जो वर्गीकरण किया है वह प्राथमिक (Primary) समिश्र (Blended) और साधित (Derived) तीन प्रकार का है। इस वर्गीकरण का तत्व और काव्य मे प्रभावी होने वाली भावनाओ और साधारण या अप्रभावी भावनाओ के निर्धारण का तत्व भिन्न भिन्न है। प्राथमिक, समिश्र और साधित भावनाओ का वर्गीकरण स्थायी और व्यभिचारी भावो पर कहा तक घटित हो सकता है, इसकी छानबीन करना आवश्यक था और डा० वाटवे ने उसी प्रकार का प्रयत्न किया है। परन्तु इस मार्ग मे जाते हुए करुण जैसे प्रमुख रस का स्थायी सिद्ध करने मे कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं सामान्यत मनोवृत्तियो म कौन सी प्राथमिक अथवा मूलभूत मनोवृत्तियाँ मानी जायें, इस विषय म मानसशास्त्र का प्रतिपादन स्वीकार करने पर भी काव्यशास्त्र के लिए यह निर्धारित करना कि प्राथमिक भावनाएँ ही सुनिश्चित सख्या और स्वरूप म ही स्थायीभाव और रसत्व को प्राप्त होती हैं, निष्प्रयोजन है।'[2]

प्रा० केळकर के अतिरिक्त प्रा० रा० श्री० जोग प्रा० दि० के० बेडेकर, डा० वाळिंबे, डा० वारलिंगे आदि ने रस सिद्धान्त के स्थायी भाव और मानसशास्त्रीय 'सेंटिमेंट' के समीकरण पर आपत्तियाँ उठाई हैं तथा प्रस्तुत साम्य प्रदान को अनुपयुक्त ठहराया है।

प्रा० जोग ने अभिनव काव्य प्रकाश' के तीसरे सस्करण म परिशिष्ट लिखकर 'स्थायीभाव' और 'सेंटिमेंट' के समीकरण पर मुख्यत दो आक्षेप उठाये हैं (१) स्थायीभाव सस्कृत आचार्यों के अनुसार जन्मजात होते हैं परन्तु मानसशास्त्रज्ञ इन्हें सपादित (Acquired) मानते हैं। (२) सेंटिमेंट विशिष्ट विषय निष्ठ होते हैं, परन्तु स्थायीभावो के लिए यह अनिवार्य नहीं है। सस्कार अनुभव तथा प्रसगवश स्थायीभावो से सेंटिमेंट बाद म होगा, परन्तु प्रेम की मूलभावना को

१ रस विमर्श, पृ० २४८-४९।
२ काव्यालोचन स० स० पृ० १४२।

सेंटिमेंट' नहीं कहा जा सकता। किसी व्यक्ति के मन में भय का विषय अथवा क्रोध का विषय स्थिर रूप में नहीं होता बल्कि बीच बीच में उस क्रोध अथवा भय का अनुभव होता है प्रस्तुत क्रोध या भय की अनुभूति उत्कट भी हो सकती है परन्तु इसे 'सेंटिमेंट' नहीं कहा जा सकता। इसी प्रसंग में रसानुभूति के लिए सहृदय के चित्त में भय अथवा क्रोध के स्थिर भावबन्ध (सेंटिमेंट) की पहले से ही स्थिति अनिवार्य नहीं है। रस निष्पत्ति में स्थायी भाव आवश्यक है, परन्तु सेंटिमेंट स्थिरवृत्ति या भावबन्ध की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यदि सहृदय के मन में किसी विशिष्ट विषय के सम्बन्ध में पहले से ही भावबन्ध (सेंटिमेंट) निर्मित है तो तत्सम्बन्धी विशिष्ट रस का अनुभव उसे अधिक तीव्रता से होगा, परन्तु उसके अभाव में रसनिष्पत्ति और रसपरिपुष्टि न हो सकेगी, यह कहना अनुपयुक्त है।[1] भरतमुनि प्रतिपादित ४९ भावों में कतिपय शारीरिक, कतिपय मानसिक तथा कतिपय भावनात्मक अवस्थाएं आती हैं परन्तु भरतमुनि सभी को भाव के अन्तर्गत रखते हैं इसका कारण श्री० दि० के० बेडेकर के मतानुसार भरतमुनि का भाव से अभिप्राय मानवी मनोविकारों (Feelings) अथवा (Emotions) से नहीं है अपितु 'भाव' का अर्थ शक्ति रूप से समस्त किसी पदार्थ का भाव अर्थात् पदार्थ में अन्तर्भूत तथा विशिष्ट प्रक्रिया से कार्यप्रवृत्त होनेवाली शक्ति से है।[2] फलतः आठों स्थायीभावों का प्राथमिक साधित अथवा स्थिर-वृत्ति रूप मानने की विचारधारा का इन्होंने प्रबल प्रत्याख्यान किया है।[3]

इन्होंने आठों स्थायीभावों को मूलभूत मानवी मनोविकार न मानकर इन्हें काव्यार्थ (काव्यविषय) का भावन कराने वाले विलक्षण पदार्थ के रूप में ही माना है। 'भय' स्थायीभाव का उदाहरण लेकर इन्होंने अपने आशय को इस प्रकार से स्पष्ट किया है भय स्थायीभाव का अर्थ सहृदय अथवा नट का मनोविकार नहीं है वह तो एक नाट्य भाव है नाट्य में दुष्यन्त के बाण से भयभीत होकर प्रणय से भाग रहे नाट्यमृग का 'नाट्यभय' ही एक नाट्य भाव है (जो 'भय स्थायी भाव' कहा जाता है)। भय नाट्यभाव परिणामस्वरूपी (प्रभावित) मनोविकार नहीं है बल्कि स्वयं काव्यार्थ– (काव्यविषय) का प्रभावी (भावित) करने वाला एक विलक्षण पदार्थ है।[4] इनके मत में नाट्यभावों को सहृदय

१ अभिनवरसप्रकाश पृ० १२२ १२३
२ विस्तार के लिए द० 'भाव प्रकरण'।
३ रस सिद्धान्ताचें स्वरूप (नवभारत मासिक, नवम्बर और दिसम्बर १९५०)
४ वही।

की चित्तवृत्तिया मानने के भ्रमवश ही स्थायीभावोको प्राथमिक स्वयसिद्ध या सार्वत्रिक मानने की कल्पनाएँ निकली हैं।

भरतमुनि ने ४९ भावो मे आठ भावो को ही स्थायी की सज्ञा क्यो दी है ? तथा इन्हें दूसरो से अधिक शक्तिशाली अथवा 'स्वामी रूप' क्यो कहा है ? इसका उत्तर श्री वेडेकर के मत मे 'मानसशास्त्र नही दे सकता, बल्कि मानसशास्त्र को पृथक् रख कर ही स्थायीभाव का अर्थ निकालना चाहिए। आठ रसो से स्थिर सम्बन्ध रखने के कारण ही इन्हे स्थायी कहा गया है।'[१]

डा० वाळिंबे ने श्री वेडेकर के भाव विषयक प्रतिपादन को सामान्य रूप से स्वीकार करते हुए भी 'भावो' के भावनात्मक या मनोविकारात्मक अर्थ के एकात प्रत्याख्यान को स्वीकार नही किया है। इन्होने स्थायीभावो का तात्पर्य 'इमोशन्स' या भावना के रूप मे ही ग्रहण करना उपयुक्त माना है। भरतमुनि निरूपित रस तथा स्थायीभावो की सज्ञाओ पर सूक्ष्म रूप से दृष्टिपात करने पर स्पष्ट हो जाता है कि "आठो स्थायीभाव भावना या इमोशन्स' के अन्तर्गत ही रखने होगे।"[२]

स्थायीभावो को 'भावना' या 'इमोशन' रूप स्वीकार करने के उपरान्त इनका मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' तथा 'इन्स्टिक्ट्स' से सम्बन्ध स्थापित करना इनके मत मे असगत है। डा० वाटवे की स्थायी और सेंटिमेंट के समीकरण की मान्यता का तथा प्रा० जोग की स्थायी और इन्स्टिक्टस की समरूपता की स्वीकृति का प्रत्याख्यान करते हुए इन्होंने लिखा है "रति, क्रोध इत्यादि आठ स्थायीभाव अथवा सहजप्रवृत्तियाँ हैं ऐसा प्रा० जोग को प्रतीत होता है यह उपयुक्त नही है और स्थायी का अर्थ डा० वाटवे के अनुसार जो 'सेंटिमेंट' समझा गया है, वह भी उचित नही है।' स्थायीभावो को सेंटिमेंट अथवा इन्स्टिक्टस मानना इसलिए भी उचित नही है कि मानसशास्त्र म निरूपित इनकी परिभाषाएँ स्थायीभावो पर तनिक भी नही घट पाती हैं। श्री आनदकुमार स्वामी ने भी स्थायीभावो को इमोशन्स' ही कहा है।[३] अत डा० वाळिंबे के मत म स्थायीभावो को 'इमोशन' या मनोविकार रूप ही मानना चाहिए।

---

१ रस सिद्धातचे स्वरूप (नवभारत, मासिक, नवम्बर और दिसम्बर १९५०)

२ सा० मीमासा पृ० ११२

३ वही पृ० १२१ २२
Dictionary of World Literature P 322

डा० बारलिंगे ने रस-स्वरूप पर मौलिक चिंतन उपस्थित करने के साथ स्थायीभावों के विषय में भी अपनी मान्यता प्रकट की है। इन्होंने स्थायीभावों का निरूपण न तो नितांत भरतमुनि की मान्यता के आधार पर किया है और न डा० वाटवे की भाँति मानसशास्त्रीय सेन्टिमेंट के समकक्ष ही स्वीकार किया है। डा० वाळिंबे के समान इन्होंने भी स्थायीभावों के 'इमोशन्स' या भावनात्मक स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है। डा० वाटवे की स्थायीभाव और सेंटिमेंट के समानत्व की मान्यता का प्रत्याख्यान करने के उपरांत इन्होंने लिखा है यह सत्य है कि मूल प्रेरणा के बिना स्थायीभाव उत्पन्न नहीं होते परन्तु सामान्य रूप में स्थायीभावों को मूल प्रेरणाओं में परिपुष्ट इमोशन्स (Emotions) कहा जा सकता है। भरतमुनि के वचनों में प्रस्तुत मत सुनिश्चित रूप से ध्वनित नहीं होता। उनके स्थायीभाव में आशय मानसिक अवस्था मात्र प्रतीत होता है। यह ध्यान रखना है कि प्रस्तुत अवस्था भावनात्मक अर्थात् इमोशनल होगी। स्थायी शब्द का महत्व अर्थ स्थित या स्थिर हुआ है। स्थायी भाव से तात्पर्य विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के पीछे स्थित भाव अर्थात् नट जिसका आविष्कार करते हैं वह भाव न होकर कवि और सहृदय मनस्थ भाव से है। रंगमंच पर यदि सामान्य व्यक्ति नायिका से शृंगारिक चेष्टाएँ कर रहा हो तो वहाँ स्थायी भाव रति नहीं होगा क्योंकि कवि के मन में अथवा सहृदय के मन में उस प्रसंग में अथवा उस समय रति नहीं होगी। रति का अपना बोध विचार या इसी प्रकार की कोई अवस्था सहृदय की होगी और वैसी ही अवस्था कवि के मन में भी प्रसंग निर्माण के समय होगी और नटवर्ग भी अभिनय द्वारा उसी प्रभाव को प्रेक्षकों के मन पर डालने का प्रयत्न करेगा।[1]

इस प्रकार डा० बारलिंगे ने स्थायीभावों को सेन्टिमेंट न मानकर इनकी उभयात्मक—कवि तथा सहृदयगत स्थिति स्वीकार की है और इनका स्वरूप परिपुष्ट भावनात्मक (इमोशनल) माना है।

सारांश

मराठी के समीक्षकों में डा० क० ना० वाटवे ने रस सिद्धांत के स्थायीभाव और मानसशास्त्र की चित्तवृत्ति (सेन्टिमेंट) में साम्य-स्थापन के लिए अनेक युक्ति प्रमाणों का आश्रय लिया है। इनके अभिमत का प्रत्याख्यान ही एक प्रकार से अन्य समीक्षकों ने विस्तार से किया है। श्री० द० के० केळकर ने मॅक्डूगल' के

१ सौन्दर्याचे व्याकरण पृ० ११९-२०

मानसशास्त्र का आधार लेकर स्थायीभाव और 'सेंटिमेंट' के साम्यप्रदर्शन का प्रयास किया है तो प्रा॰रा॰श्री॰ जोग ने मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' और भारतीय रस-स्वरूप की भिन्नता को ध्यान में रखकर दोनों का साम्य-स्थापन असगत माना है। श्री॰ दि॰ के॰ बेडेकर ने तो भरतमुनि प्रतिपादित भावस्वरूप में मनोवृत्ति या 'भावनारूप' की स्थिति का ही प्रतिषेध किया है अत इनके मत में स्थायीभावों को 'सेंटिमेंट' मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु डा॰ रा॰ श॰ वाळिंबे ने भरतमुनि का आधार लेकर ही स्थायीभावों का भावना या 'इमोशन' रूप तो सिद्ध कर दिया है किन्तु स्थायीभावों को सेंटिमेंट मानना इन्हें भी उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ है। डा॰ सुरेन्द्र बारलिंगे भी स्थायीभाव में भावनात्मक तत्व का प्रतिषेध नहीं करते। इन्होंने स्थायी का अर्थ 'स्थिर' मान कर कविमनस्थ तथा सहृदयस्थ परिपुष्ट भावनाओं को स्थायीभाव माना है।

उपर्युक्त हिन्दी-मराठी के समीक्षकों की मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन से स्थायीभाव और सेंटिमेंट तथा रस और सेंटिमेंट में पारस्परिक भिन्नता का स्पष्टीकरण करने के लिए संक्षेप में निम्न तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

स्थायीभाव और सेंटिमेंट में अंतर

१ स्थायीभाव भावना रूप होते हैं अथवा अभिनवगुप्तादि के अनुसार जन्मजात भावना रूप भी हो सकते हैं, परन्तु सेंटिमेंट अनिवार्यतः अनुभव-सपादित (Acquired) होते हैं।

२ एक भाव की बार-बार आवृत्ति से सेंटिमेंट बन जाता है जैसे क्रोध भाव की सतत आवृत्ति से 'वैर' सेंटिमेंट परन्तु रति आदि स्थायीभावों की परिपुष्टि के लिए संचारियों की ही आवृत्ति होती रहती है। संचारी भाव कितने ही बार आवर्त होते रहें वे स्थायीभाव नहीं बन सकते।[1] इसके विपरीत अपरिपुष्ट स्थायी संचारी भी बन सकता है।

३ सेंटिमेंट्स विशिष्ट विषयनिष्ठ होते हैं परंतु स्थायीभाव के लिए यह अनिवार्य नहीं है, सहृदय के या किसी भी व्यक्ति के भय आदि स्थायीभावों में पहले से ही किसी स्थिर विशिष्ट विषय की स्थिति अनिवार्य नहीं है।

---

१ स्थायित्व स्थायिष्वेव प्रतिनियतं न व्यभिचारिषु । व्यभिचारित्व व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः । तत्र स्थायिभावानामुभयोर्गति । न व्यभिचारिणाम । व्यभिचारिणस्ते नित्य व्यभिचारिण एव न जातु कदाचित स्थायित्व प्रपद्यन्ते । विवेक, १७०७१

४ स्थायीभाव समग्र रूप से आस्वाद्य होते हैं, परन्तु सेंटिमेंट की सहचर भावनाओं का ही आस्वादन हो सकता है।[१]

५ 'सेंटिमेन्टस' सदैव विचारमूलक होते हैं परन्तु स्थायीभाव (रस को छोड़कर) विचारमूलक नहीं—प्रवृत्तिमूलक ही है।

रस और सेंटिमेंट में भिन्नता

१ रस का परम्परागत स्वरूप आनन्दमय है, परन्तु 'सेंटिमेंट' अनिवार्यतः आनन्द-स्वरूप नहीं है।

२ रस समग्र रूप से आस्वाद्य है सेंटिमेंट की सहचर भावनाओं का ही आस्वादन हो सकता है।

३ रसों की संख्या सुनिश्चित-सी है परन्तु सेंटिमेंट की सुनिश्चित गणना कठिन है।

४ सहृदय में रसानुभूति के लिए भाव या स्थायीभाव की स्थिति अनिवार्य है, परन्तु सेंटिमेंट के अभाव में भी रसानुभूति संभव है।

पाश्चात्य मानसशास्त्र के सिद्धान्तों तथा भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का समीकरण किसी सीमा तक ही उपयुक्त हो सकता है। स्थायीभाव और सेंटिमेंट में अभिन्नता सिद्ध करने के लिए संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं का मानसशास्त्र की शब्दावली में स्पष्टीकरण ही नहीं अपितु कहीं-कहीं अर्थ परिवर्तन भी अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काव्य सिद्धान्तों का आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में पुनराख्यान तभी उपादेय हो सकता है जब कि प्राचीन और अर्वाचीन मान्यताओं में जहाँ कहीं साम्य न हो वहाँ उसकी स्पष्ट स्वीकृति ही न दी जाय अपितु दोनों के सूक्ष्म अन्तर का यथावत् निरूपण भी किया जाय। अन्यथा काव्य-सिद्धान्तों के निष्पक्ष मूल्यांकन वास्तविक महत्त्वमापन तथा स्वरूप निर्धारण में प्राचीन सिद्धान्तों के प्रति अतिरिक्त मोह या द्वेष अथवा अर्वाचीन मतों के प्रति विशिष्ट आग्रह या तिरस्कार बाधक बन कर उपस्थित होंगे।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि मराठी और हिन्दी के अधिकांश विद्वानों को भरतनसाहित्यशास्त्र के स्थायीभाव तथा मानसशास्त्र के 'सेंटिमेन्टस' में एकान्त साम्य असंगत प्रतीत होता है। वस्तु स्थिति भी यही है। स्थायीभाव और 'सेंटिमेंटस' की भाँति स्थायीभाव और मानसशास्त्र के 'इंस्टिक्ट्स' में परस्पर साम्य स्थापित करने का हिंदी और मराठी के

---

१ 'स्थायीभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः'—भरत नाट्यशास्त्र ६।३१।

कतिपय आलोचकों ने प्रयत्न किया है। स्थायीभाव के स्वरूप निर्धारण में प्रस्तुत साम्य-स्थापन का अध्ययन भी निरुपयोगी न होगा।

स्थायी भाव और सहजप्रवृत्तियाँ (इन्स्टिंक्टस)

मानसशास्त्रियों के मतानुसार सहज प्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) प्रकृति प्रदत्त शक्ति है, जो कि मानसिक संस्कारों के रूप में प्राणिमात्र के मन में स्थित रहती है। इन्हीं सहजप्रवृत्तियों के कारण प्राणी विशेष प्रकार के संवेगों (इमोशन्स) की अनुभूति करता है। सहजप्रवृत्तियों और तज्जनित संवेगों का मानसशास्त्रज्ञ मेक्डूगल महोदय ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इनके मत में मूल चौदह सहजप्रवृत्तियाँ (इन्स्टिंक्टस) और इनसे सम्बद्ध अनेक संवेग होते हैं।[१] इन चौदह सहजप्रवृत्तियों और उनसे सम्बद्ध संवेगों के स्वरूप की ओर ध्यान देने से साहित्यशास्त्र के मूल स्थायीभावों से उनके साम्य का आभास होने लगता है। हिंदी में डा० नगेन्द्र तथा डा० गुलाबराय ने मानसशास्त्र की सहजप्रवृत्तियों एवं तत्सम्बद्ध संवेगों से भारतीय स्थायीभावों के साम्य का विस्तार से निरूपण किया है।

डा० नगेन्द्र ने मेक्डूगल निरूपित चौदह सहजप्रवृत्तियों से सम्बद्ध संवेगों

१

सहजप्रवृत्ति	(Instinct)	सहज प्रवृत्तिगत भाव
१ भोजनोपार्जन	(Food Seeking)	क्षुधा
२ अपकर्षण	(Repulsion)	घृणा
३ काम	(pairing)	रति
४ भय	(Flight)	भय
५ जिज्ञासा	(Curiosity)	औत्सुक्य
६ सामाजिकता	(Social Instinct)	मिलनेच्छा
७ मातृ भावना	(Parental Instinct)	वात्सल्य
८ आत्म प्रतिष्ठा	(Assertion)	गर्व
९ अधीनता	(Submission)	दैन्य
१० क्रोध	(Pugnacity)	क्रोध
११ आत्मयाचना	(Appeal)	दुःखकातरता
१२ निर्माण	(Construction)	सृजनोत्साह
१३ परिग्रह	(Hoarding)	अधिकार भावना
१४ हास्य	(Laughter)	हास

से स्थायीभावों का सम्बन्ध दिखा कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रस सिद्धान्त व स्थायीभावों का वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल कपोल-कल्पित या अमनोवैज्ञानिक नहीं है। इन्होंने स्थायीभावों तथा सहजप्रवृत्तियों में पारस्परिक साम्य-वैषम्य का प्रतिपादन इस प्रकार से प्रस्तुत किया है

उपर्युक्त चौदह प्रवृत्ति मूलक मनोविकारों में भी क्षुधा सर्वथा शारीरिक है अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी आप देखिये अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नहीं हैं। वे स्पष्टतः एक दूसरे की सीमा रेखा का अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरण के लिए सजनात्मोह और अधिकार भावना अहंकार की परिधि में ही आ जाते हैं। कार्पण्य और कातरता भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नहीं हैं। वास्तव में वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्तिमूलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए। रति, हास, क्रोध, भय घृणा (जुगुप्सा), औत्सुक्य वात्सल्य अहंकार कार्पण्य, सहानुभूति (सदेच्छा) इनमें पहले सात तो संस्कृत स्थायीभावों से प्राय अभिन्न ही हैं। अहंकार और उत्साह में भी कोई विशेष अंतर नहीं है। कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायीभाव माना है, परन्तु वास्तव में सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नहीं होती। यही बात सदिच्छा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है। अब संस्कृत साहित्यशास्त्र का एक स्थायीभाव रह जाता है—शान्त। क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनों शोक (करुणा) के तत्व नहीं माने जा सकते ? १

इससे स्पष्ट है कि डा० नगेन्द्र स्थायीभावों तथा सहज प्रवृत्ति मूलक मनोविकारों में सम्बन्ध-स्थापन असंगत नहीं मानते। इन्हीं के समान डा० गुलाबराय ने भी सहजप्रवृत्तियों तथा स्थायीभावों का परस्पर अन्तर्भाव दिखाया है।२ इस अन्तर्भाव में डा० नगेन्द्र तथा डा० गुलाबराय ने परम्परागत नौ रसों में से शान्त को पृथक कर दिया है और उनमें वात्सल्य को अन्तर्भूत कर लिया है। डा० नगेन्द्र ने शान्तरस के स्थायी भाव—निर्वेद—का मैक्डूगल निरूपित किसी सहज प्रवृत्ति में अन्तर्भाव नहीं किया है। डा० गुलाबराय का शान्त रस के विषय में अभिमत यह है कि शान्तरस में कोई प्रवृत्ति नहीं होती यदि हो सकती है तो अधीनता स्वीकृति (नम्रभाव) की प्रवृत्ति। शायद इसीलिए शान्त को नाट्य

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८०
२ सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १८६ ८७

रसों में नहीं माना है और वात्सल्य को स्वतन्त्र रस माना है।"[1] इस प्रकार हिन्दी में परंपरागत दस स्थायी भावों में तथा सहजप्रवृत्तियों में साम्य प्रदर्शित करके स्थायी भावों की मनोवैज्ञानिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

स्थायीभाव और सहजप्रवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) के समीकरण के औचित्य-अनौचित्य अथवा गुण-दोषों के विवेचन से पूर्व आधुनिक मराठी काव्य शास्त्र के प्रमुख लेखक प्रा० जोग की स्थायी और मूल प्रवृत्ति सम्बन्धी मान्यता का उल्लेख भी अनुपयोगी न होगा। हिन्दी-काव्यशास्त्र के लेखकों से पर्याप्त समय पूर्व ही मराठी लेखकों ने साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का पाश्चात्य काव्यशास्त्र और मानसशास्त्र के प्रकाश में अध्ययन आरम्भ कर दिया था। श्री जोग ने अभिनव काव्य प्रकाश के प्रथम संस्करण (१९३०) में पाश्चात्य मानसशास्त्रज्ञ शैंड की मान्यता के आधार पर स्थायी भाव और रसों के विवेचन का प्रथम प्रयत्न किया था। इन्होंने शैंड निरूपित मानवी भावनाओं के क्रोध, भय, आनंद और शोक चार प्रमुख मूलभूत स्वतन्त्र तथा जुगुप्सा विस्मय आदि दो मुख्यरूप' संघों के आधार पर स्थायी भावों तथा रसों को प्रतिष्ठापित किया था। स्थायी भावों की संख्या तो आठ थी परन्तु शैंड की प्रमुख मानवी भावनाओं के संघ की परिधि सीमित थी। इसमें 'रति' जैसे प्रमुख स्थायी भाव का अन्तर्भाव नहीं हो पाता था, परन्तु प्रा० जोग ने 'रति' की मूलभूतता और व्यापकता का भी प्रतिषेध किया था।[2] परन्तु कालान्तर में श्री जोग को शैंड के मानवी भावना-संघों के आधार पर स्थायी भावों का साम्य प्रदर्शन अनुपयुक्त लगा अतः उन्होंने अभिनव काव्य प्रकाश, के द्वितीय संस्करण में 'रस के विषय में स्पष्ट लिखा—'उत्कट चित्तवृत्ति का निर्माण जिन जिन भावनाओं से होता है, वे भावनाएं मूलभूत हों अथवा न हों, रस बन सकती हैं।[3]

डा० वाटवे के 'रसविमर्श' प्रकाशित होने के पश्चात् मराठी में 'स्थायी' और 'सेंटिमेंट' के समीकरण पर अनेक आलोचनात्मक लेख प्रकाशित हुए। श्री जोग ने 'अभिनव काव्य प्रकाश' के तृतीय संस्करण में परिशिष्ट जोड़कर 'स्थायी और सेंटिमेंट' के अन्तर का स्पष्टीकरण किया है और स्थायी भाव तथा 'सहजातवृत्ति' (Instinct) के साम्य को इस प्रकार से गलत ठहराया है 'ऐसी स्थिति में यही कहना उपयुक्त लगता है कि स्थायी भावों

---

१ सिद्धांत और अध्ययन, पृ० १८६-८७।

२ अभिनव काव्य प्रकाश प्र० संस्करण पृ० ७५ (१९३०)

३ अभिनव काव्य प्रकाश, द्वितीय संस्करण पृ० ११४ (१९४६)

की सहजात वृत्तियों (इन्स्टिंक्ट्स) से और रसों का 'इमोशन्स' से अधिक निकट सम्बन्ध है। इस विषय में अपवाद हो सकते हैं परन्तु स्थूल रूप में यही समीकरण उपयुक्त लगता है।'[1] जिस प्रकार स्थायीभाव और सेंटिमेंट का नितांत साम्य प्रतिपादन अनुपयुक्त है, उसी प्रकार स्थायीभावों का सहजप्रवृत्तियों में समीकरण भी विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः संस्कृत-आचार्यों में ही स्थायी भाव के स्वरूप के विषय में मत भेद है। भरतमुनि स्थायीभाव को 'स्वामी-सेवक' या राजा-अनुचर का उदाहरण देकर समर्थ या शक्तिशाली 'भाव' के रूप में मान्यता देते हैं[2] तो अभिनव गुप्त 'वासना' 'संविद्' या जन्मजात मूलभाव के रूप में उसे स्वीकार करते हैं।[3] आचार्य विश्वनाथ ने इसे विरोधी या अविरोधी भावों से न दबने वाला तथा आस्वादांकुर या 'आनंदांकुर' कहा है,[4] तो जगन्नाथ ने चित्त में चिरकाल तक रहने वाला तथा व्यभिचारी भावों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ एवं रसत्व को प्राप्त होने वाले भाव को स्थायी कहा है।[5] इसके अतिरिक्त जगन्नाथ ने संगीत रत्नाकर के रचयिता शार्ङ्गदेव का अभिमत भी उद्धृत किया है जिसके अनुसार स्थायी भावों के जन्मजात या संस्कार रूप का भी प्रतिषेध मिलता है—चिर काल तक अथवा शक्तिशाली विभावों में उद्दीप्त रत्यादि भाव स्थायी भाव होते हैं परन्तु वे ही भाव यदि स्वल्प अथवा निर्बल विभावादियों में उद्दीप्त हों तो केवल संचारी भाव ही होंगे।[6]

(१) अतः उपर्युक्त मान्यताओं से स्पष्ट है कि सभी आचार्य स्थायी भाव को जन्मजात संस्कार रूप में नहीं मानते विभावादि से परिपुष्ट होने पर ही उसका स्थायी रूप बनता है दूसरी ओर सहजप्रवृत्ति में जन्मजात संस्कारिता अनिवार्य है वह स्वयं परिपुष्ट नहीं होती बल्कि संवेगों को जन्म देती है।

(२) स्थायी भावों की संख्या आठ-नौ रही है जब कि सहज प्रवृत्तियाँ १४ मानी गई हैं इनमें संग्रह (Hoarding Instinct) रचना (Creative-

---

१ अभिनव काव्य प्रकाश तृतीय संस्करण पृ० १२३। (१९५१)
२ नाट्यशास्त्र ७।७ के उपरान्त का गद्य।
३ अ० भारती पृ० २८३ द्वि० सं० (१९५६)
४ सा० दर्पण ३।१७४।
५ रसगंगाधर पृ० ३१।
६ संगीतरत्नाकर ७ १५३३

Instinct) तथा भक्ष्यान्वेषण (Food seeking)] को परंपरागत स्थायी भावों के अन्तर्गत रखना कठिन है।

(३) शोक संस्कृत-काव्यशास्त्र के अनुसार स्थायी भाव है, मानसशास्त्र में 'शोक' को सहजप्रवृत्ति (Instinct) के रूप में मान्यता नहीं दी गई है।

(४) अनेक संचारी भावों की गणना सहजप्रवृत्तियों के अन्तर्गत की जा सकती है। उदाहरणार्थ, गर्व संचारी का अहंभाव या आत्मप्रकाशन रूप (Assertion) सहजप्रवृत्ति में तथा औत्सुक्य संचारी का उत्सुकता (Curiosity) में। फिर केवल ८-९ स्थायी भावों को ही सहजप्रवृत्तियों (Instincts) में निर्धारित करने की कौनसी निर्दोष कसौटी है ?

इस विषय में डा० वार्लिंगे के अभिमत को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा—"जिस प्रकार संगीत की उत्पत्ति लैंगिक भावना से मानी जाती है, परन्तु लैंगिक भावना और संगीत दोनों एक नहीं हैं, उसी प्रकार पुष्टभाव (स्थायी) और मूल प्रेरणा दोनों एक ही नहीं हैं। इमोशन्स वस्तु की सहायता से पुष्ट होते हैं परन्तु सहजप्रवृत्तियाँ (Instincts) को इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। सहजप्रवृत्तियाँ 'अनकान्शस' (अचेतन) होती हैं। विशुद्ध मूलप्रेरणा और स्थायीभाव दोनों को एक ही मान लिया जाय तो 'वत्सल' और शृंगार में अंतर करना ही कठिन होगा। अतः मक्डूगल निरूपित मूलप्रेरणा की सूची का आधार लेकर तदनुसार आठ या नौ रसों का निर्माण सिद्ध करना उपयुक्त नहीं लगता।"[1]

इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्य मानसशास्त्र की सहजप्रवृत्तियों से स्थायी भावों के साम्य निर्धारण का प्रश्न विवादग्रस्त है। कतिपय स्थायीभाव अनायास ही मानसशास्त्र की सहजप्रवृत्तियों से मेल खा जाते हैं, इस कारण समस्त स्थायीभावों का उनसे साम्य प्रतिपादन करना जहाँ एक ओर अव्याप्ति दोष है वहाँ दूसरी ओर स्थायी इतर अनेक संचारियों का सहजप्रवृत्ति में अन्तर्भाव संभव होने से प्रस्तुत समीकरण अतिव्याप्ति दोष से भी असम्पृक्त नहीं है। अतः स्थायी और 'सेंटिमेंट' की भाँति स्थायी और सहज प्रवृत्तियों का समीकरण भी नितांत निर्दोष नहीं है।

साहित्यशास्त्र के स्थायी भावों का मानसशास्त्रीय 'सेंटिमेंट' तथा 'इंस्टिंक्ट्स' से तुलना करने के उपरान्त एक निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि भारतीय

---

१ सौंदर्याचे व्याकरण पृ० १२०।

आचार्यों ने जिन स्थायी भावों की परिकल्पना की है, उनका आधार मानवी मन है। दूसरी ओर मानसशास्त्र का आधार भी मानवीमन है और वह उसके रहस्यों का उद्घाटन करता है। यद्यपि दोनों का मूल आधार एक ही है, तथापि मनोविज्ञान में मनोवृत्तियों का वर्गीकरण और उनका स्वरूप निर्धारण एकांतत भावना और उनकी स्थूल उपयोगिता के आधार पर नहीं होता, अपितु मानसशास्त्र मन का अध्ययन अंतर्दर्शन (Introspection), निरीक्षण (Observation), प्रयोग (Experiment), तुलना (Comparision), और विश्लेषण (Psycho analysis) के आधार पर करता है। परन्तु काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों का मूल आधार मानसशास्त्र का व्यापक मन नहीं है अपितु काव्योपयुक्त भावनाओं से परिपूर्ण मन है। अत काव्यशास्त्र भावनाओं का वर्गीकरण जिस तत्व के आधार पर करता है, मानसशास्त्र एकांतत उसी तत्त्व को नहीं अपनाता। काव्य में अभिव्यक्त व्यापक, तीव्र और प्रबल भावनाओं को पहले-पहल 'स्थायी' की संज्ञा दी गई होगी। संभवत भरतमुनि से पूर्व तथा उनके सम-सामयिक नाटक-साहित्य में मुख्यत रत्यादि आठ स्थायी भावों का प्रमुख वर्णन उपलब्ध होता हो। भरतमुनि ने तो इन आठ स्थायी भावों में भी चार-रति, क्रोध उत्साह और जुगुप्सा का प्रमुख और शेष चार-हास, शोक, विस्मय और भयानक का अप्रमुख तज्जन्य होने से गौण या अप्रमुख रूप में वर्णन किया है।[1] स्थायी भावों के नामकरण अथवा वर्गीकरण की क्या कसौटी है ? अथवा उनका मूल आधार क्या है ? इस विषय में भरतमुनि 'आप्तवचन' को ही प्रमाण मान कर चले हैं।[2]

आठ रसों में चार को प्रमुख और शेष चार को 'उपरस' मानने से अथवा तज्जन्य मानने में यही ध्वनित होता है कि भावनाओं की उत्कटता अथवा उनकी रागमयगत परिपुष्टि ही स्थायी भाव के वर्गीकरण के मूल में निहित है कालान्तर में अभिनवगुप्तादि आचार्यों ने उन्हें जन्मजात या वासनारूप भी मान लिया है। अभिनव परवर्ती संस्कृत के आचार्यों ने स्थायीभावों के स्थायित्व के अन्य अनेक

---

१ तेषामुत्पत्ति हेतवश्चत्वारो रसा । तद्यथा शृंगारो रौद्रो वीरो वीभत्स इति। ना० शा० ६।३८।

२ यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति। एवमेषामपि रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्यानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेश सिद्धानि नामानि भवन्ति। ६।४१ ना० शा०

कारण भी दृढ निवार । किसी ने इसे प्रधान मनोविकार माना, जो सजातीय या विजातीय भावो से तिरोहित नहीं होता तो किसी किसी ने चिरकाल स्थायित्व, आश्रयधर्म्यायित्व या अविच्छिन्नप्रवहमानता के कारण इन्हें स्थायी कहा है।[1] परन्तु हिन्दी तथा मराठी के आधुनिक काव्यशास्त्र के विचारकों ने स्थायी भावो का मानसशास्त्र के 'सेंटिमेंट' तथा 'इन्स्टिंक्टस' से सम्बद्ध करके इनकी मनोवैज्ञानिकता की खोज का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत प्रयत्न सर्वथा निर्दोष न होने पर भी इस की सबसे बडी उपयोगिता यही है कि यह हमारे दृष्टिकोण को व्यापक और चिंतन प्रणाली को वैज्ञानिक बनाता है।

काव्यशास्त्र और मानसशास्त्र की आधारभूत मिलन भूमि एक ही है—और वह है भावनाओं (Emotions) की। मानसशास्त्र भावनाओं का वर्गीकरण प्राथमिक (Primary) सम्मिश्र (Blended) और साधित (Derived) रूप में करे अथवा काव्यशास्त्र स्थायी और सचारियों के वर्ग बनाये परन्तु दोनों में समान रूप से उपलब्ध वस्तु—भावना ही है। मानसशास्त्र अपनी विशिष्ट पद्धति से भावनाओं का वर्गीकरण करता है और काव्यशास्त्र की भी अपनी निराली पद्धति है। दोनों के वर्गीकरण में नितान्त स्वरूप साम्य है, पूर्ण साम्य नहीं। अत काव्यशास्त्र के स्थायी भावों का सम्बन्ध निरापद रूप से मानसशास्त्र के किसी तत्व से स्थापित किया जा सकता है तो वह भावना (Emotion) ही है।

विभाव का स्वरूप

भरतमुनि ने अपने रस सूत्र में 'विभाव' को प्रथम स्थान दिया है और 'कारण' निमित्त तथा हेतु इन तीन 'पर्यायवाची' शब्दों से विभाव का अर्थ स्पष्ट किया है।[2] जिनके द्वारा वाचिक आंगिक और सात्विक अभिनयों की प्रतीति कराई जाती है वे आधारभूत सम्पूर्ण उपादान विभाव हैं।[3] अन्यत्र भरत ने कहा है "रति नामक प्रमादात्मक भाव को ऋतु माल्य अनुलेपन आभरण इत्यादि विभावों से उत्पन्न किया जाता है।"[4] 'विभाव' की प्रस्तुत सक्षिप्त व्याख्या

1 विस्तार के लिए दे० संस्कृत में स्थायीभाव का स्वरूप।
2 विभावो विज्ञानार्थ । विभाव कारण निमित्त हेतुरिति पर्याया ।
दे० नाट्यशास्त्र ७ ३ के बाद का विवेचन
3 नाट्यशास्त्र—७ ४
4 वही ७-६, ७-१३

से भरतमुनि का मूलभूत आशय इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है, वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों की प्रतीति कराने का आधारभूत साधन विभाव है रति आदि स्थायीभावों के उत्पादक कारण ऋतु माल्य आभूषण आदि उपकरण भी विभाव हैं अर्थात् अभिनेता पात्रों और स्थायी भावों को साकारता प्रदान करने मे सहायक समस्त उपादान विभाव कहलाते है।

इस प्रकार भरतमुनि के मतानुसार रस निष्पत्ति का उत्पादक कारण विभाव है। भरतोत्तर युग में रस स्वरूप के विषय म तीन भिन्न भिन्न मत उपलब्ध होते हैं–वस्तुवादी, भाववादी और आनन्दवादी।[1] जहा तक प्रथम प्रकार का वस्तुवादी रस है उसकी निष्पत्ति रगमच पर ही होती है, वह सहृदय सापेक्ष नही है अत उसमें सहृदयगत स्थायी भाव की उद्बुद्धि, परिपुष्टि या चर्वणा का प्रश्न नही उठता। शेष दोनो रस-स्वरूपो म सहृदयगत स्थायी भाव की परिपुष्टि का विवेचन किया गया है। धनजय ने विभाव के सामान्यत दो ही वर्ग बनाये हैं–आलम्बन और उद्दीपन।[2] आलम्बन के अन्तर्गत काव्यगत नायक-नायिका का अन्तर्भाव किया गया है और उद्दीपन म आलबन-बाह्य उपकरणो का। आचार्य अभिनव गुप्त के समक्ष भरतमुनि के समान एकान्तत रगमच का रूप ही उपस्थित नही था। उन्होने काव्य-स्वरूप को भी दृष्टिगत रख कर रस सिद्धान्त के विभिन्न अगो की व्याख्या की है। अत इन्होने रस के मूल म निहित स्थायीभाव की स्थिति विशेषत सहृदयगत ही स्वीकार की है[3] और रस निष्पत्ति मे सहृदयगत स्थायीभाव की अभिव्यक्ति पर बल दिया है। काव्यगत पात्रो म रस निष्पत्ति का वे मान्यता नही देते। इन्होने काव्यगत विभाव' के आलबन और उद्दीपन दो ही वर्ग स्वीकार किये हैं और सहृदयगत स्थायी भाव का 'उद्भव-हेतु' या विषय' इस रूप म ही विभाव' शब्द का आशय ग्रहण किया है। विभाव' को सहृदयगत स्थायीभाव की उद्बुद्धि का कारण मानते हुए इसके आलबन और उद्दीपन इन दो वर्गों को ही अधिकाश आचार्यों ने मान्यता दी है। कतिपय आचार्यों न आलम्बन विभाव के भी दो भेद–विषयालम्बन और आश्रयालबन–किये हैं। जिसको उद्दिष्ट कर रत्यादि भाव प्रवर्तित होते हैं वह विषयालबन कह लाता है और जो रत्यादि स्थायी भाव का आधार है, वह आश्रयालम्बन कहलाता

१ दे० रस स्वरूप प्रकरण।
२ दशरूपक, ४।२
३ अभिनव भारती, पृ० २८३।

है।[1] इस प्रकार काव्यगत 'विभाव' सामान्यत तीन वर्गों में विभक्त हो गया—आश्रयालम्बन, विषयालम्बन और उद्दीपन।[2]

काव्यगत विभाव के प्रस्तुत तीन वर्गों की पृथक्-पृथक् स्थिति स्वीकार करने से सहृदयगत रस निष्पत्ति म कुछ उलझनें पैदा हो जाती हैं। क्योंकि आनंदवादी आचार्यों के अनुसार रस तथा स्थायी भाव की स्थिति आश्रय म होती है। काव्यगत आश्रय में जिस स्थायी की स्थिति है, उसी से सहृदय का तादात्म्य होने पर तदनुरूप ही सहृदय म स्थायी भाव की अभिव्यक्ति म रस निष्पत्ति होगी। इसी स्थिति से यहाँ दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१ क्या सहृदयगत रस निष्पत्ति के लिए काव्यगत 'विभाव' के आश्रयालम्बन, विषयालम्बन तथा उद्दीपन तीन वर्गों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था की आवश्यकता है?

२ जहाँ काव्य म आश्रयालम्बन का वर्णन न हो, वहाँ सहृदय के स्थायीभाव की अभिव्यक्ति किस आधार पर होगी? उदाहरणार्थ वीभत्स तथा हास्य में घृणोत्पादक वस्तुओं का तथा हास्योत्पादक विषयालम्बन का रूप वर्णन ही पर्याप्त है। वहाँ किसी अन्य आश्रय की आवश्यकता ही नहीं, जिसमें प्रथम जुगुप्सा या हास्य स्थायीभाव की स्थिति दिखाई जाय और तदनुरूप सहृदय में भी उस स्थायी भाव की उद्बुद्धि या अभिव्यक्ति सिद्ध की जाय?

भरतमुनि के सामने तो विभाव की आश्रयालम्बन और विषयालम्बन की पृथक्-पृथक् कल्पनाएँ नहीं थी। उनके अनुसार तो विभाव का अर्थ ही रस का कारण है जिसमें समस्त पात्र और उनके भावों को अभिव्यक्त करने म सहायक सम्पूर्ण प्राकृतिक और वेषभूषात्मक उपकरण अन्तर्भूत हैं।

रस को सहृदयगत सिद्ध करने वाले आचार्यों ने लौकिक और अलौकिक रस की कल्पनाएँ भी की हैं। काव्यगत पात्रों म आश्रय और आलम्बन की जो स्थिति है अथवा इनमें जो रस निष्पत्ति है, वह लौकिक है। काव्यगत नायक-नायिका का शृंगार लौकिक रस है, उनकी उत्पत्ति के लिए उद्दीपन, विभाव, अनुभाव आदि कारण होते हैं, परन्तु रगमच पर उसका प्रयोग देखने से अथवा काव्य में वर्णन पढ़ने से सहृदय के मन म जो साधारणीकृत अथवा व्यक्ति

---

१ आधारो विषयो विषयाश्रयभेदात्। यमुद्दिश्य रत्यादि प्रवर्तते सोऽस्य विषय। आश्रयस्तु तदाधार। विद्याभूषण साहित्य कौमुदी, ४ पृ० २९। रस विमर्श, पृ० १३२ से।

२ दे० सरस्वती कण्ठाभरण (भोज) ५।३५-३८।

निरपेक्ष केवल आनन्दस्वरूप अंतिम परिपाक निर्माण होता है, उसे अलौकिक रस कहते हैं।[१] अतः अधिकांश आचार्यों ने विभावादि सामग्री लौकिक रस अर्थात् काव्यगत स्वीकार की है और स्थायीभाव को मात्र सहृदयगत माना है।[२] इस स्थिति में काव्यगत विभाव की स्थिति लौकिक ही मानी जायगी। इसके अतिरिक्त काव्यगत विभाव के आश्रयालम्बन और विषयालम्बन दोनों भेद सहृदय के अलौकिक रस की निष्पत्ति में सामान्य आलम्बन रूप ही रहेंगे। इस प्रकार प्रथम प्रश्न का उत्तर संस्कृत आचार्यों की मान्यताओं के अनुसार ही यह बनेगा कि विभाव के आश्रयालम्बन विषयालम्बन दो पृथक् पृथक् वर्ग बनने पर भी उनका सामान्य स्वरूप सहृदय के लिए आलम्बनात्मक ही रहेगा।

दूसरे प्रश्न का उत्तर भी 'लौकिक' और 'अलौकिक' रस-स्वरूप के आधार पर ही दिया जा सकता है किन्तु आचार्य जगन्नाथ ने इसका उत्तर अपने निजी विचार में प्रस्तुत किया है। इनके मत में ऐसे स्थलों में किसी 'दर्शक पुरुष' (द्रष्टपुरुष विशेष) में आश्रयत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए।[३] वस्तुतः प्रस्तुत उत्तर विशेष समाधान कारक नहीं है। क्योंकि सहृदय को अपने से भिन्न आश्रय की कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या है? उसे हास्य या बीभत्स के आलंबन को देखते ही बिना काव्यगत आश्रय के या 'दर्शक पुरुष विशेष' की कल्पना के रसानुभूति हो सकती है। यदि सहृदय की दृष्टि से विचार किया जाय तो काव्यगत आश्रय और काव्यगत आलम्बन दोनों ही सहृदय के लिए आलम्बन रूप होते हैं।

परन्तु जब काव्यगत पात्रों के आश्रय और आलम्बन दो वर्ग बनाये जाते हैं तब सर्वत्र आश्रय से सहृदय के तादात्म्य की स्थिति का प्रश्न जटिल हो जाता है। क्योंकि काव्य में सर्वत्र स्थायीभाव के या रस के आश्रय का वर्णन अनिवार्यतः नहीं होता जैसे बीभत्स और हास्य में और अनेक बार काव्यगत आश्रय से सहृदय का तादात्म्य होना भी कठिन हो जाता है, जैसे, खलनायक के प्रसंग में। हिन्दी में आचार्य शुक्ल ने और मराठी में डा० वाटवे ने काव्यगत आश्रय और आलम्बन की स्थिति पर कुछ विस्तार से चिंतन किया है। उनके अभिमतों का निरूपण करने के उपरान्त काव्यगत विभाव का वास्तविक स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न किया जाएगा।

---

१ वि० दे० रसविमर्श पृ० ३००।
२ वही पृ० ३०१।
३ रसगंगाधर, पृ० ५५।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'विभाव' के आलम्बन तथा आश्रय दो पक्षों का निरूपण किया है। इनमें आलम्बन के अन्तर्गत 'मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है किन्तु 'आश्रय' सहृदय सम्पन्न मनुष्य ही होता है।'[1]

आलम्बन के अन्तर्गत शुक्ल जी ने प्रकृति वर्णन को स्वतंत्र आलम्बन रूप माना है। इनके मत में प्रकृति वर्णन को सर्वत्र 'उद्दीपनमात्र' मानना उचित नहीं है। काव्यगत 'आश्रय' के विषय में भी शुक्ल जी की स्पष्ट स्थापना है "जो वस्तु मनुष्य के भावों का विषय या आलम्बन होती है उसका शब्द चित्र यदि किसी कवि ने खींच दिया है तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं कि आश्रय की भी कल्पना करके उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ दिखावे। मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव नहीं) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।[2]

शुक्ल जी ने अपनी उपर्युक्त स्थापना की परिपुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनमें काव्यगत 'आश्रय' के अभाव में भी सहृदय में रसानुभूति की स्थिति स्वीकार्य हो सकती है

१ नायिका भेद या 'नखशिख' से सम्बद्ध ग्रंथों में आश्रय की स्थिति नहीं होती। 'नायिका भेद' में शृंगार रस के आलम्बन मात्र का वर्णन होता है और नखशिख में किसी पक्ष में उस आलम्बन के भी किसी एक अंग मात्र का।

२ संसार की प्रत्येक भाषा में इस प्रकार के काव्य वर्तमान हैं जिनमें भावों का प्रदर्शन करने वाले पात्र अर्थात् आश्रय की योजना नहीं की गई है।

३ प्राकृतिक वर्णन का रसात्मक उद्धरण समय आश्रय भूत पात्र की यहाँ आवश्यकता नहीं होती।

४ श्रोता या पाठक का भी हृदय होता है—वह दूसरों के हँसने रोने को देखने के लिए नहीं जाता, बल्कि स्वयं ऐसे विषयों को सामने पाने के लिए जाता है जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने के गुण रखते हैं।

५ राम जानकी के वनगमन प्रसंग में हरिश्चन्द्र द्वारा अपनी पत्नी शैव्या से कफन माँगते समय दर्शक करुणार्द्र हो जाते हैं उन्हें किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं होती।

शुक्ल जी की मान्यता में रसानुभूति के लिए विभाव के आलम्बन पक्ष का

---

१ रस मीमांसा, पृ० ११०।

२ रस मीमांसा पृ० १४३-१४४

विशेष महत्व है। फलत पूर्ण रस की निष्पत्ति के लिए शुक्ल जी ने 'सामान्य आलम्बन' की कसौटी को महत्वपूर्ण माना है। काव्यगत आलम्बन' से काव्यगत आश्रय म जिन भावो की परिपुष्टि होती है यदि सहृदय म भी काव्यगत आलम्बन स काव्यगत आश्रय के समान ही भावो की परिपुष्टि हो, तो वहा पूर्ण रस मानना चाहिए

'पूर्ण रस वही मानना पडेगा जहा—
(क) आश्रय श्रोता क रति भाव का आलम्बन होगा और
(ख) आलम्बन श्रोता के भी उन्ही भावो का आलम्बन होगा आश्रय के जिन भावो का है।'[1]

प्रस्तुत पूर्ण रस की कसौटी शुक्ल जी के ही मत म सवत्र अनिवार्यत अघटित नही होगी। उदाहरणार्थ शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के क्रोध म श्रोता या सहृदय भी आश्रयवत (दुर्वासा के समान) क्रोध की अनुभूति नही करेगा। काव्यगत आश्रय के समान सहृदय को उसी भाव की अनुभूति नही होगी। क्या पूर्ण रस के अभाव म इस प्रकार के प्रसग काव्य म त्याज्य है ? शुक्ल जी ने ही उत्तर दिया है इस प्रकार का वर्णन काव्य म अनुपादेय नही कहलायेगा, क्योकि कवि का काव्य सदैव रस की या पूर्ण रस की कवायद करना नही।"[2] शुक्ल जी की प्रस्तुत मान्यता दो तथ्यो पर चिन्तन करने के लिए प्रेरित करती है

१ रस सिद्धान्त ही मूलत इतना अव्यापक है कि उसमे कवि-अभिव्यक्त सभी प्रकार की भावनाओ का अन्तर्भाव नही हो पाता। विशेषत वे भाव रसानुभूति के अनुपयुक्त है जिनम काव्यगत आश्रय की भावनाओ स सहृदय का तादात्म्य नही हो पाता। अथवा

२ भरतमुनि के परवर्ती आचार्यों ने ही व्यापक विभाव तत्त्व को सहृदयगत रस निष्पत्ति की दृष्टि से सकुचित बना दिया है। उन्होने 'विभाव' के आलबन उद्दीपन तथा आश्रय तीन पक्ष बना दिये। पूर्ण रस निष्पत्ति के लिए सहृदय का काव्यगत आश्रय से तादात्म्य अनिवार्य ठहराया।

रस सिद्धान्त म अव्यापकता का एक कारण उसके विभिन्न तत्वो का अत्यधिक सूक्ष्म वर्गीकरण भी है। यदि 'विभाव' का आशय मूलत भरतमुनि निरूपित ही स्वीकार किया जाय तो विशेष उलझना के लिए अवकाश ही नही होगा। काव्य हो अथवा नाटक हो जो विभिन्न रसो अथवा भावो की पाठको को अनुभूति कराने म समर्थ तत्व है वे विभाव है, इसम मानव का रूप, उसकी वेशभूषा, प्राकृतिक

---

१ रस मीमांसा पृ० १५०।
२ रसमीमांसा पृ० १५८।

वातावरण सभी का अतर्भाव हो जाता है। भरतमुनिने कही भी नाटकगत या काव्यगत आश्रय की चर्चा नहीं की है। सहृदय की दृष्टि से देखें तो काव्यगत आलम्बन अथवा काव्यगत आश्रय दोनो ही उसकी विशिष्ट अनुभूति या रस को उद्बुद्ध करने म समर्थ तत्व हैं, कारण हैं, भरत के शब्दो में 'निमित्त' या 'हेतु' हैं अत विभाव हैं।

जहाँ काव्यगत आश्रय में उद्बुद्ध भावो से सहृदय का भी पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, वहाँ तो परपरागत विभाववर्गीकरण—आलम्बन-आश्रय रूप–निर्दोष है। इसके विपरीत जहाँ काव्यगत आश्रय से तादात्म्य नहीं हो पाता वहा सहृदय की दृष्टि से 'विभाव' के आलम्बन तथा आश्रय दो पक्ष निर्धारित करना अनुपादेय प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति म सहृदय के लिए काव्यगत आलम्बन तथा काव्यगत आश्रय दोनो ही आलम्बन स्वरूप ही हैं। शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के शाप प्रसग म सहृदय के सामने दोनो का चरित्र स्पष्ट है सहृदय को यदि यहाँ रौद्र रस की अनुभूति नहीं होती, तदितर किसी भाव की अनुभूति होती है तो भी शकुन्तला और दुर्वासा दोनो ही पाठक म रौद्र इतर किसी विशिष्ट अनुभूति को उद्बुद्ध करने के कारण हैं, हेतु हैं अत विभाव हैं।

अधिक स्पष्ट शब्दों म कहें तो यहाँ काव्यगत आलम्बन शकुतला और काव्यगत आश्रय दुर्वासा दोनो ही सहृदय के लिए आलम्बन रूप ही हैं।

मराठी म डा० वाटवे न काव्यगत आश्रय-आलम्बन तथा सहृदयगत आश्रय-आलम्बन का पृथक्-पृथक् विवेचन करके इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है। इनके मत में काव्यगत आश्रय-आलम्बन तथा सहृदयगत आश्रय-आलम्बन की पृथक्-पृथक् स्थिति स्वीकार करना आवश्यक है।[1] शृगार रस म इनकी पृथक् स्थिति के निरूपण की आवश्यकता इसलिए प्रतीत नहीं होती कि वहाँ प्राय काव्यगत आलम्बन काव्यगत आश्रय और आस्वादक सहृदय दोनो के लिए एक जैसा ही होता है। परन्तु अन्य रसो में इस प्रकार की स्थिति नहीं रहती। उदाहरणार्थ, आचार्य जगन्नाथ ने वीर रस के आलम्बन-आश्रय का इस प्रकार से वर्णन किया है—

राम– हे रावण! तूने दीन देवताओ को पराजित करने के लिए वाधित कर अपना पराक्रम व्यक्त किया है तुम जैसे क्षुद्र व्यक्ति पर मैं बाण कैसे छोड़ूँ? वह मारहीं मेरे बाण के वेग को जानने म समर्थ हैं जिसने अपने भाल पर स्थित नेत्र म निकली हुई ज्वालाओ से सपूर्ण ससार को अभिभूत कर दिया है।[2]

१ रसविमर्श, पृ० ३०५। रसगगाधर, पृ० ४८

२ रणे दीनान देवान दमयदन विदाय्य यदनि

आचार्य जगन्नाथ के मतानुसार इसमें शिव आलम्बन विभाव रण-दर्शन उद्दीपन विभाव रावण की अवज्ञा अनुभाव तथा गर्व व्यभिचारी भाव है।[१] परन्तु डा० वाटवे के मतानुसार वीर राम की स्व सामर्थ्य प्रदर्शक उक्ति के कारण ही पाठकों में उत्साह स्थायीभाव उद्दीप्त होता है अतः राम को ही आलम्बन क्यों न माना जाय? शिव के उल्लेख से राम की उक्ति में प्रखरता अवश्य आ गई है परन्तु सहृदय के उत्साह का उद्दीपक तो राम की ही उक्ति है। आचार्य जगन्नाथ ने राम को आलम्बन विभाव के रूप में नहीं रखा इसका कारण यह है कि उन्होंने काव्यगत व्यक्ति के आलम्बन विभाव तथा सहृदय के आलम्बन विभाव की पृथक् पृथक् स्थिति पर ध्यान नहीं दिया है। शिव की अतुल शक्ति के उल्लेख से राम में ओज का संचार हुआ है अतः राम के लिए आलम्बन शिव ही है परन्तु सहृदय के लिए तो राम ही आलम्बन है राम की उक्ति में ही सहृदयस्थ उत्साह उद्बुद्ध होता है।[२] इसी प्रकार मम्मट के काव्यप्रकाश में शाकुन्तल नाटक के 'ग्रीवाभंगाभिरामं०' श्लोक में दुष्यन्त के बाणों से भयभीत होकर भागता हुआ मृग आश्रय तथा दुष्यन्त को आलम्बन निरूपित किया गया है।[३] डा० वाटवे के मत से काव्यगत आश्रय-आलम्बन की दृष्टि से प्रस्तुत व्यवस्था समाचीन है परन्तु सहृदय में भयानक रस की निष्पत्ति के लिए भय से भागता हुआ मृग ही आलम्बन बनेगा न कि राजा दुष्यन्त।[४] अतः डा० वाटवे ने साम्प्रदायिकमदावादी के विभाव वर्गीकरण—'आश्रयालंबन विभाव' तथा 'विषयालम्बन विभाव'—का समर्थन किया है। इस प्रकार 'आश्रयालंबन विभाव' सहृदय का होगा और विषयालंबन विभाव काव्यगत व्यक्तियों का। पूर्वोक्त वीर रस के उदाहरण में राम उत्साह वृत्ति का आश्रय तथा शिव उसका विषय है अतः राम सहृदयों का आलम्बन विभाव और शिव राम का आलम्बन विभाव समझा जा सकता है। इसी प्रकार भयानक रस के उदाहरण में मृग के लिए आलम्बन होगा राजा दुष्यन्त और सहृदय के लिए होगा भयभीत मृग।[५] इस प्रकार डा० वाटवे के मत में रस-स्वरूप के निर्धारण में काव्यगत व्यक्ति के विभाव और सहृदय के विभाव का पृथक्-पृथक् उल्लेख इस समस्या का समाधान प्रस्तुत कर सकेगा।

प्रस्तुत आश्रय-आलम्बन की पृथक्-पृथक् व्यवस्था समीचीन प्रतीत होती है।

---

१ रसगंगाधर पृ० ४८-४९।
२ रसविमर्श, पृ० ३०४
३ काव्यप्रकाश, ४४१
४ रसविमर्श, पृ० ३०५
५ रस विमर्श पृ० ३०५

फिर भी रसानुभूति के लिए सर्वत्र काव्यगत आश्रय में ही तादात्म्य की स्थिति संदिग्ध रहती है। काव्यास्वाद के समय काव्यगत आश्रय और काव्यगत आलम्बन दोनों का स्वरूप सहृदय के सामने नितान्त स्पष्ट रहता है। सहृदय के लिए यह संभव ही नहीं है कि वह काव्यगत आलम्बन से निर्लिप्त रहे और काव्यगत आश्रय में ही तादात्म्य प्राप्त कर ले। काव्य में ऐसे अनेक स्थल होते हैं जहाँ आलम्बनमात्र का विशद वर्णन मिलता है ऐसी स्थिति में सहृदय बिना किसी काव्यगत आश्रयालम्बन के रसानुभूति प्राप्त कर लेता है इस कारण काव्यगत आश्रय और काव्यगत आलम्बन दोनों ही सहृदय की रसानुभूति के कारण हैं, अतः आलम्बन विभाव हैं।

सारांश

संस्कृत में भरतमुनि ने विभाव की व्याख्या वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय तथा स्थायीभावों को साकार रूप प्रदान करने वाली कारण सामग्री के रूप में की है। भरतोत्तर युग में विभाव के आश्रयालम्बन, विषयालम्बन तथा उद्दीपन तीन वर्ग बनाये गये।

विभाव के प्रस्तुत वर्ग विभाजन तथा काव्यगत आश्रयालम्बन से सहृदय के तादात्म्य की स्थिति स्वीकार करने से अनेक उलझनें उपस्थित होती हैं। क्योंकि काव्य में सर्वत्र आश्रय की स्थिति नहीं रहती, वरन् आलम्बन का विशद वर्णन मिलता है। आचार्य जगन्नाथ ने ऐसे स्थलों में स्वयं पुरुष विशेष के आश्रय की कल्पना कर लेने का सुझाव दिया है। परन्तु इससे वास्तविक समस्या नहीं सुलझती। अतः हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने काव्यगत आश्रय के अभाव में भी काव्यगत आलम्बन मात्र के विशद वर्णन में रसानुभूति स्वीकार कर ली है। फिर भी पूर्ण रस की सिद्धि में इन्होंने काव्यगत आश्रयालम्बन से तादात्म्य आवश्यक माना है। मराठी में डा० वाटवे ने काव्यगत आश्रयालम्बन और विषयालम्बन का तथा सहृदयगत आश्रयालम्बन और विषयालम्बन का पृथक्-पृथक् निरूपण आवश्यक ठहराया है। वस्तुतः विभाव को भरतनिरूपित मूल आशय—रसास्वाद के कारण सामग्री रूप लिया जाय और काव्यगत आश्रयालम्बन या काव्यगत विषयालम्बन दोनों को सहृदय की रसानुभूति के लिए आलम्बन रूप ही मान लिया जाय तो रस निष्पत्ति और तादात्म्य की समस्या कुछ सीमा तक सुलझ जाती है।

अनुभाव का स्वरूप

भरतमुनि ने अपने रस-सूत्र में विभाव के पश्चात् अनुभाव का उल्लेख कर दोनों तत्त्वों की पारस्परिक भिन्नता की स्वीकृति दी है। उन्होंने विभाव तथा अनुभाव को 'लोकप्रसिद्ध' तथा 'लोकयात्रानुगामी' कहा है अतः इनकी विस्तृत

व्याख्या भरतमुनि के मत म अनावश्यक है।[१] भरतमुनि ने विभिन्न रसा के पथक पृथक् अनुभावा का उल्लेख किया है, इस स अनुभावा का स्वरूप समझन मे सहायता मिलती है। इनके अनुसार शृगार रस के अनुभाव ह—मधुरवचन, स्मितवदन भ्रूक्षप, कटाक्ष आदि।[२] इस प्रकार नट मनोभावा का व्यक्त करन के लिए जिन जिन अभिव्यजना की सहायता लेता है, व अनुभाव कहलाते है। भरतपरवर्ती आचार्यों न अनुभवा की और अधिक स्पष्ट व्याख्याएँ की हैं। धनजय न रत्यादि स्थायी भावा की सूचना करने वाल विकारा का अनुभाव कहा है [३] तो आचाय विश्वनाथ क मत म आलवन उद्दीपन आदि कारणा स उत्पन्न भावा का बाहर प्रकाशित करन वा काय अनुभाव कहलाते हैं।[४] इसी प्रकार आचाय जगन्नाथ क मत म भी स्थायीभावा क जो काय हैं व ही अनुभाव हैं।[५] साराश, संस्कृत आचार्यों क अनुसार मनोगत भावों का व्यजित करने वाले सभी प्रकार के विकार अनुभाव कहलात हैं।

हिन्दी म अनुभाव का स्वरूप प्रतिपादन संस्कृत-आचार्यों के मतानुसार ही हुआ है। आचाय शुक्ल ने माना है कि भाव की गति विधि का पता अनुभावा स लगता है अत अनुभाव भाव के सूचक होते हैं।[६] शुक्ल जी का प्रस्तुत मत धनजय क पूर्वोक्त अनुभाव-स्वरूप से मिलता जुलता है। डा० श्यामसुदरदास न अनुभाव-लक्षण म भाव तत्व पर विशेष बल दिया है। इनके मत म 'भाव कारण और अनुभाव काय हैं। अनुभावा के द्वारा भाव की सूचना मिलती है।'[७] आचाय जगन्नाथ क पूर्वोक्त अनुभाव-लक्षण मे स्पष्ट है कि उन्होने भी स्थायी भावा का काय ही अनुभाव का माना है। इन्ही के अनुभाव लक्षण का आश्रय लेते हुए श्री रामदहिन मिश्र ने लिखा है जो भावा क काय है या जिनके द्वारा रति आदि स्थायी भावा का अनुभव होता है, उन्ह अनुभाव कहते हैं।'[८] इस प्रकार हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रिया ने अनुभाव-लक्षण म संस्कृत आचार्यों के मतो का ही आधार

१ नाट्यशास्त्र, ७।५
२ वही, ७।८
३ दशरूपक ४।३
४ साहित्य दपण, ३।१३२।
५ रसगगाधर, पृ० ३३।
६ रस मीमांसा, पृ० १७३ और २११।
७ साहित्यालोचन, पृ० २२३।
८ काव्यदपण पृ० ५८।

ग्रहण किया है। किन्तु अनुभावों के परम्परागत वर्गीकरण की वैज्ञानिकता की परीक्षा में डा० श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य शुक्ल ने परम्परा भिन्न चिंतन का प्रयत्न किया है।

अनुभाव-वर्गीकरण

संस्कृत-साहित्यशास्त्र में अनुभाव के कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक चार वर्ग उपलब्ध होते हैं।[1] अनुभाव का स्वरूप सामान्यतः भावाभिव्यंजक शारीरिक विकारों के रूप में स्वीकार किया गया है, परिणामतः इनमें चार भेदों में से 'आहार्य' और 'मानसिक' इन दो का अनुभावत्व संदिग्ध प्रतीत होने लगता है। इसीलिए डा० श्यामसुंदर दास ने आहार्य के अनुभावत्व का प्रतिषेध किया है। इनके मत में वेष बदलकर भाव प्रदर्शित करने को आहार्य कहते हैं। अतः इसकी गिनती अनुभावों के अन्तर्गत नहीं की जानी चाहिए। इसे अभिनय का एक अंग समझना चाहिए या यों कहें कि यह अभिनय का बीज रूप है, तो अनुचित नहीं।[2] वस्तुतः यदि 'आहार्य' अभिनय का एक अंग है तो 'मानसिक' अनुभाव भी 'भाव' का ही एक अंग है। क्योंकि श्यामसुन्दरदास जी के ही मत में मानसिक अनुभाव का लक्षण इस प्रकार है—'स्थायीभाव के कारण उत्पन्न हुए अन्य भाव अथवा मनोविकार को मानसिक अनुभाव कहते हैं।'[3] जब मानसिक अनुभाव का स्वरूप भावात्मक या मनोभावात्मक है तब इसे शारीरिक अवस्था प्रधान अनुभाव तत्व का एक पृथक् वर्ग किस आधार पर स्वीकार किया जाय? इसका मनोभावों या संचारियों में ही अंतर्भाव हो सकता है। इसी कारण आचार्य शुक्ल ने 'मानसिक' को भी अनुभाव का भेद नहीं माना है। इन्होंने अनुभाव के पूर्वोक्त चार वर्गों में से सात्विक और आहार्य को कायिक में अंतर्भूत मान लिया है और मानसिक को मूलतः अनुभाव न मान कर इसे संचारी की संज्ञा दी है। मानसिक को अनुभाव न मानने का कारण यह है कि अनुभाव किसी भाव का सूचक होता है, स्वयं मुख्य नहीं होता। 'मानसिक' की स्थिति इससे भिन्न है, मानसिक अवस्था स्वयं गोचर नहीं होती। अतः शुक्ल जी के मत में 'मानसिक अवस्था जो मुख्य हुआ करती है, वह सूचकों में नहीं रखी गई, संचारियों में रखी गई है।'[4] इस प्रकार शुक्ल जी ने

---

१ ते चानुभावाः कायिकमानसाहार्यसात्विकभेदाच्चतुर्धा, रसतरंगिणी, पृ० १०

२ साहित्यालोचन, पृ० २२४।

३ वही, पृ० २२३।

४ रसमीमांसा, पृ० २१९।

भयवान व्यक्ति तथा साधारण व्यक्ति के शोक प्रेम तथा भय के अनुभाव एक जातीय होते हैं फिर भी उनका स्वरूप एक जैसा ही हो यह आवश्यक नहीं है।[१] डा० वाटवे तथा प्रा० रा० श्री जोग दोनों ने ही अनुभावों के परंपरागत चार भेदों की समीक्षा नहीं की है। इन्होंने अनुभाव तथा सात्विक भाव का पृथक-पृथक विवेचन किया है।

इस प्रकार हिन्दी मराठी के अधिकांश समीक्षकों ने भावाभिव्यंजक शारीरिक चेष्टाओं या विकारों को अनुभाव माना है। हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रियों ने आहार्य तथा मानसिक इन दो अनुभाव भेदों को अनुभाव-वर्ग में स्थान देना अनुपयुक्त माना है क्योंकि ये दोनों भेद अनुभाव के मूलभूत स्वरूप शारीरिक विकार या चेष्टा की सीमा में नहीं आते।

संचारी भाव का स्वरूप

भरतमुनि से आचार्य जगन्नाथ तक के आचार्यों ने व्यभिचारी भाव या संचारी भाव के स्वरूप का निरूपण किया है। भरतमुनि का दृष्टिकोण मूलतः नाटकीय या रंगमंचीय रहा है। अतः इन्होंने इसी दृष्टिकोण से व्यभिचारी भावों का स्वरूप प्रतिपादन किया है। इनके मत में व्यभिचारी भाव सहकारी भाव होते हैं विविध रसों में अनुकूलता के साथ संचरण करते हैं। वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से सम्बद्ध रसों को प्रयोग में लाते हैं अर्थात् रंगमंच पर व्यावहारिक या मूर्तरूप प्रदान करते हैं।[२] देश काल तथा परिस्थिति का ध्यान में रखकर ही तथा व्यभिचारी भावों को मध्यम अधम या उत्तम व्यक्तियों की सहायता से प्रयोग में लाना चाहिए अर्थात् रंगमंच पर अभिनयात्मक रूप देना चाहिए।[३]

भरतोत्तरयुग में भावों की भाँति व्यभिचारी भावों का स्वरूप भी मनोभावात्मक बनता गया। व्यभिचारी भावों को स्थायी भावों से सम्बद्ध किया जाने लगा। धनंजय के मत में व्यभिचारीभाव स्थायी भावों के अनुकूल अपना व्यापार करते हैं। समुद्र से जैसे तरंग उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार स्थायी भावों से व्यभिचारी भावों की उत्पत्ति होती है और वे उसी में विलीन हो जाते हैं।[४] व्यभिचारी भावों को ही कालान्तर में संचारीभाव कहा

१ अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२०।
२ नाट्यशास्त्र, पृ० ८४ ७।२७
३ वही, पृ० ९५, ७।११।
४ दशरूपक, ४।७

अनुभाव वर्ग में 'कायिक' को अधिक महत्वपूर्ण माना है। अन्य वर्ग या तो कायिक-व्यापार में ही अन्तर्भूत होंगे अथवा उनका क्षेत्र अनुभाव की सीमा में नहीं आ सकेगा। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अनुभाव के मुख्य दो वर्ग बनाये हैं—कायिक और वाचिक और प्रथम कायिक वर्ग में ही सात्विक आंगिक और आहार्य का अन्तर्भाव माना है।[1] मानसिक अनुभाव को भी इन्होंने कायिक में ही अन्तर्भूत मान लिया है। क्योंकि प्रमाणादि मानसिक अनुभाव मानने पर भी इनकी आंगिक चेष्टाएं अस्वीकृत नहीं की जा सकती। इसलिए इन्हें भी कायिक चेष्टाओं के ही अंतर्भूत समझना चाहिए।[2] श्री रामदहिन मिश्र ने अनुभावों के संस्कृत परंपरागत चार भेदों का निरूपण कर दिया है इनके औचित्य या अनौचित्य की परीक्षा नहीं की।[3]

अनुभाव स्वरूप के विवेचन तथा अनुभावों के वर्गीकरण की विस्तृत मीमांसा मराठी के काव्यशास्त्रियों ने नहीं की है। प्रायः अधिकांश समीक्षकों ने संस्कृत आचार्यों के प्रतिपादन का ही समर्थन किया है। डा०वाटवे के अनुसार अनुभाव का स्वरूप इस प्रकार है— नट भावाभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत होता है। वह अभिनय के द्वारा अर्थात् भ्रू वक्रता हास्य रुदन नेत्र विस्फारण आदि से मूलपात्र की भावनाओं को व्यक्त करता है और प्रेक्षकों को उस भावना का अनुभव अपने इन भावाभिव्यंजना से कराता है फलतः इन अभिनय रूप भावनाभिव्यंजना (शारीरिक चेष्टाओं तथा मन अंगिमा आदि) को अनुभाव कहा जाता है।[4] अनुभाव का प्रस्तुत स्वरूप विवेचन भरतमुनि के अनुभाव लक्षण पर आधृत है।[5] डा० वाटवे ने धनंजय भट्ट लोल्लट जगन्नाथ तथा हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित अनुभाव स्वरूपों का निरूपण किया है किन्तु अनुभाव के भेदों की परीक्षा नहीं की।[6] प्रा० रा० श्री० जोग ने भी मनोभावों के अभिव्यंजक सभी प्रकार के शारीरिक विकारों अथवा शरीरावयवों की चेष्टाओं को अनुभाव माना है।[7] इनके मत में विभिन्न रसों के अनुरूप भिन्न भिन्न अनुभाव तो होते हैं किन्तु व्यक्ति स्वभाव, देश तथा काल के कारण भी अनुभावों में भिन्नता आना संभव है। उदाहरणार्थ,

---

१ वाङ्मय विमर्श, पृ० १४६।
२ वही, पृ० १४५।
३ काव्यदर्पण, पृ० ५८।
४ रसविमर्श, पृ० १०३।
५ नाट्यशास्त्र, ७ ७, तथा ७-१३।
६ रसविमर्श, पृ० १०३ १०४।
७ अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२०।

धैर्यवान व्यक्ति तथा साधारण व्यक्ति के शोक, प्रेम तथा भय के अनुभाव एक जातीय होते हैं फिर भी उनका स्वरूप एक जैसा ही हो यह आवश्यक नहीं है।[1] डा० वाटवे तथा प्रा० रा० श्री जोग दोनों ने ही अनुभावों के परंपरागत चार भेदों की समीक्षा नहीं की है। इन्होंने अनुभाव तथा सात्विक भाव का पृथक-पृथक विवेचन किया है।

इस प्रकार हिन्दी मराठी के अधिकांश समीक्षकों ने भावाभिव्यंजक शारीरिक चेष्टाओं या विकारों को अनुभाव माना है। हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रियों ने आहार्य तथा मानसिक इन दो अनुभाव भेदों को अनुभाव वर्ग में स्थान देना अनुपयुक्त माना है क्योंकि ये दोनों भेद अनुभाव के मूलभूत स्वरूप शारीरिक विकार या चेष्टा की सीमा में नहीं आते।

संचारी भाव का स्वरूप

भरतमुनि से आचार्य जगन्नाथ तक के आचार्यों ने व्यभिचारी भाव या संचारी भाव के स्वरूप का निरूपण किया है। भरतमुनि का दृष्टिकोण मुख्य नाटकीय या रंगमंचीय रहा है। अतः इन्होंने इसी दृष्टिकोण से व्यभिचारी भावों का स्वरूप प्रतिपादन किया है। इनके मत में व्यभिचारी भाव सहकारी भाव होते हैं विविध रसों में अनुकूलता के साथ संचरण करते हैं। वाचिक आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से सम्बद्ध रसों को प्रयोग में लाते हैं अर्थात रंगमंच पर व्यावहारिक या मूलरूप प्रदान करते हैं।[2] देश काल तथा परिस्थिति का ध्यान में रख कर ही तमाम व्यभिचारी भावों को मध्यम, अधम या उत्तम व्यक्तियों की सहायता से प्रयोग में लाना चाहिए अर्थात् रंगमंच पर अभिनयात्मक रूप देना चाहिए।[3]

भरतोत्तरयुग में भावों की भाँति व्यभिचारी भावों का स्वरूप भी मनोभावात्मक बनता गया। व्यभिचारी भावों को स्थायी भावों से सम्बद्ध किया जाने लगा। धनंजय के मत में व्यभिचारीभाव स्थायी भावों के अनुकूल अपना व्यापार करते हैं। समुद्र से जैसे तरंग उत्पन्न होता है और उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भावों से व्यभिचारी भावों की उत्पत्ति होती है और वे उन्हीं में विलीन हो जाते हैं।[4] व्यभिचारी भावों को ही कालान्तर में संचारीभाव कहा

१ अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२०।

२ नाट्यशास्त्र, पृ० ८४ ७।२७

३ वही, पृ० ९५, ७।९१।

४ दशरूपक, ४।७

अनुभाव वग म कायिक' को अधिक महत्वपूण माना है। अन्य वग या तो कायिक-व्यापार म ही अ तभूत होंगे अथवा उनका क्षत्र अनुभाव की सीमा म नहा आ सकेगा। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अनभाव के मुख्य दो वग बनाये है—कायिक और वाचिक और प्रथम कायिक वग म ही सात्विक, आगिक और आहाय का अ तर्भाव माना है।[१] मानसिक अनभाव को भी इहान कायिक म ही अन्तभूत मान लिया है। क्याकि प्रमोदादि मानसिक अनभाव मानने पर भी इनको आगिक चेष्टाएँ अस्वीकृत नहीं की जा सकती। इसलिए इ हे भी कायिक चेष्टाओ के ही अतभूत समझना चाहिए।[२] श्री रामदहिन मिश्र ने अनुभावा के सस्कृत-परपरागत चार भेदा का निरूपण कर दिया है इनके औचित्य या अनौचित्य की परीक्षा नही की।[३]

अनुभाव-स्वरूप के विवचन तथा अनुभावा के वर्गीकरण की विस्तत मीमासा मराठी क काय गास्त्रियो न नहा की है। प्राय अधिकाश समीक्षका न सस्कृत आचार्यो के प्रतिपादन का ही समथन किया है। डा०वाटवे क अनुसार अनुभाव का स्वरूप इस प्रकार है—' नट भावाभिव्यक्ति के लिए प्रस्तुत होता है। वह अभिनय के द्वारा अर्थात् भ्रू वनता हास्य रुदन, नत्र विस्फारण आदि से मूलपात्र की भावनाआ को व्यक्त करता है और प्रेक्षका को उस भावना का अनुभव अपन इन भावाभिव्यजना मे करा दता है फलत इन अभिनय रूप भावनाभिव्यजना (शारीरिक चेष्टाओ तथा मुख भगिमा आदि) को अनुभाव कहा जाता है।'[४] अनुभाव का प्रस्तुत स्वरूप विवचन भरतमुनि क अनुभाव लक्षण पर आधत है।[५] डा० वाटव न धनजय भट्ट लोल्लट, जगन्नाथ तथा हेमच द्र द्वारा प्रतिपादित अनुभाव स्वरूपा का निरूपण किया है किन्तु अनुभाव के भेदो की परीक्षा नही की।[६] प्रा० रा० श्री० जोग ने भी मनोभावा के अभिव्यजक सभी प्रकार के शारीरिक विकारा अथवा शरीरावयवा की चेष्टाआ का अनुभाव माना है।[७] इनके मत म विभिन रसो क अनुरूप भिन भिन अनुभाव तो हाते है किन्तु व्यक्ति-स्वभाव, देश तथा काल के कारण भी अनुभावा म भिन्नता आना सभव है। उदाहरणाथ,

---

१ वाङमय विमश, प० १४६।
२ वही, प० १४५।
३ काव्यदपण, प० ५८।
४ रसविमश, प० १०३।
५ नाटयशास्त्र, ७-७, तथा ७ १३।
६ रसविमश, पृ० १०३ १०४।
७ अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२०।

अनुभाव वग म कायिक' को अधिक महत्वपूण माना है। अय वग या तो कायिक-व्यापार म ही अतर्भूत होगे अथवा उनका क्षेत्र अनुभाव की सामा मे नहीं आ सकेगा। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र न अनुभाव के मुख्य दो वग बनाये हैं—कायिक और वाचिक और प्रथम कायिक वग म ही सात्विक, आगिक और आहाय का अतभाव माना है।[1] मानसिक अनुभाव को भी इहोने कायिक म ही अतभूत मान लिया है। क्योकि प्रमोदादि मानसिक अनुभाव मानने पर भी इनकी आगिक चेष्टाए अस्वीकृत नहा की जा सकती। इसलिए इहे भी कायिक चेष्टाआ के ही अतभूत समझना चाहिए।[2] श्री रामदहिन मिश्र ने अनुभावो के सस्कृत परपरागत चार भेदो का निरूपण कर दिया है इनके औचित्य या अनौचित्य की परीक्षा नहा की।[3]

अनुभाव-स्वरूप के विवेचन तथा अनुभावो के वर्गीकरण की विस्तृत मीमासा मराठी के काय शास्त्रना न नहा की है। प्राय अधिकाश समीक्षका ने सस्कृत आचार्यो के प्रतिपादन का ही समथन किया है। डा०वाटवे के अनुसार अनुभाव का स्वरूप इस प्रकार है— नट भावाभियक्ति के लिए प्रस्तुत होता है। वह अभिनय के द्वारा अर्थात् भ्रू वक्रता, हास्य रुदन, नेत्र विस्फारण आदि से मूलपात्र की भावनाआ को यक्त करता है और प्रेक्षका को उस भावना का अनुभव अपने इन भावाभियजना से करा देता है फलत इन अभिनय रूप भावनाभियजना (शारीरिक चेष्टाओ तथा मुख भगिमा आदि) को अनुभाव कहा जाता है।[4] अनुभाव का प्रस्तुत स्वरूप विवेचन भरतमुनि के अनुभाव-लक्षण पर आधृत है।[5] डा० वाटवे ने धनजय, भटट लोल्लट जगन्नाथ तथा हेमचद्र द्वारा प्रतिपादित अनुभाव स्वरूपो का निरूपण किया है किन्तु अनुभाव के भेदो की परीक्षा नहीं की।[6] प्रा० रा० श्री० जोग ने भी मनोभावो के अभिव्यजक सभी प्रकार के शारीरिक विकारो अथवा शरीरावयवो की चेष्टाओ को अनुभाव माना है।[7] इनके मत मे विभिन्न रसो के अनुरूप भिन भिन्न अनुभाव तो होते हैं किन्तु 'यक्ति-स्वभाव, देश तथा काल के कारण भी अनुभावो म भिन्नता आना सभव है। उदाहरणार्थ,

१ वाङमय विमश, प० १४६।
२ वही, प० १४५।
३ कायदपण, प० ५८।
४ रसविमश, प० १०३।
५ नाटयशास्त्र, ७ ७, तथा ७ १३।
६ रसविमश, पृ० १०३ १०४।
७ अभिनव काव्य प्रकाश, प० १२०।

भयवान व्यक्ति तथा साधारण व्यक्ति में शाव, प्रेम तथा भय के अनुभाव एक जातीय होते हैं, फिर भी उनका स्वरूप एक जैसा ही हो यह आवश्यक नहीं है।[१] डा० वाटवे तथा प्रा० रा० श्री जोग दोनों ने ही अनुभावों के परम्परागत चार भेदों की समीक्षा नहीं की है। इन्होंने अनुभाव तथा सात्विक भाव का पृथक-पृथक विवेचन किया है।

इस प्रकार हिंदी मराठी के अधिकांश समीक्षकों ने भावाभिव्यंजक शारीरिक चेष्टाओं या विकारों को अनुभाव माना है। हिन्दी के आधुनिक काव्य शास्त्रकारों ने आहार्य तथा मानसिक इन दो अनुभाव भेदों को अनुभाव वर्ग में स्थान देना अनुपयुक्त माना है क्योंकि ये दोनों भेद अनुभाव के मूलभूत स्वरूप शारीरिक विकार या चेष्टा की सीमा में नहीं आते।

संचारी भाव का स्वरूप

भरतमुनि से आचार्य जगन्नाथ तक के आचार्यों ने व्यभिचारी भाव या संचारी भाव के स्वरूप का निरूपण किया है। भरतमुनि का दृष्टिकोण मूलतः नाटकीय या रंगमंचीय रहा है। अतः इन्होंने इसी दृष्टिकोण से व्यभिचारी भावों का स्वरूप प्रतिपादन किया है। इनके मत में व्यभिचारी भाव सहचारी भाव होते हैं जो विविध रसों में अनुकूलता के साथ संचरण करते हैं। वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से सम्बद्ध रसों को प्रयोग में लाते हैं अर्थात् रंगमंच पर व्यावहारिक या सक्रिय प्रदान करते हैं।[२] देश काल तथा परिस्थिति का ध्यान में रख कर ही तैंतीस व्यभिचारी भावों का मध्यम अधम या उत्तम व्यक्तियों की सहायता से प्रयोग में लाना चाहिए अर्थात् रंगमंच पर अभिनयात्मक रूप देना चाहिए।[३]

भरतोत्तरयुग में भावों की भांति व्यभिचारी भावों का स्वरूप भी मनोभावात्मक बनता गया। व्यभिचारी भावों का स्थायी भावों से सम्बद्ध किया जाने लगा। धनञ्जय के मत में व्यभिचारीभाव स्थायी भावों के अनुकूल अपना व्यापार करते हैं। समुद्र से जैसी तरंगें उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार स्थायी भावों से व्यभिचारी भावों की उत्पत्ति होती है और वे उसी में विलीन हो जाते हैं।[४] व्यभिचारी भावों को ही कालान्तर में संचारीभाव कहा

---

१ अभिनव काव्य प्रकाश, पृ० १२० ।

२ नाट्यशास्त्र, पृ० ८४ ७।२७

३ वही, पृ० ९५, ७।११ ।

४ दशरूपक, ४।७

जाने लगा। भानुदत्त के मत में ये सचारीभाव इसलिए कहलाते हैं कि एक ही रस पर अवलबित न हो कर इतर रसो मे भी सचरण करते हैं।[१] परवर्ती कतिपय आचार्यों के मत मे रति आदि स्थायीभाव विविध या विपुल विभावो से निर्मित होते हैं, परन्तु स्वल्प विभावो से निर्मित वे ही स्थायी भाव व्यभिचारी भाव बन जाते हैं।[२]

इस प्रकार भरतोत्तर युग म सचारी भावो को मनोभाव-स्वरूप प्रतिपादित किया जाने लगा। भरतमुनि परिगणित ततीस सचारियो म निहित अनेक शारीरिक अवस्थाओ को भी मनोभावरूप ही सिद्ध किया गया। उदाहरणाथ आचाय जगन्नाथ ने 'मरण' सचारी को शारीरिक अवस्था रूप नही माना है वरन इसे चित्तवृत्तिरूप ही सिद्ध किया है।[३]

भरतमुनि प्रयुक्त 'भाव' शब्द का अथ एकातत मनोभाव नही है। उन्होने सामान्यत रस परिपोषक सभी तत्वो को 'भाव' रूप म ग्रहण किया है।[४] कालान्तर मे सस्कृत साहित्यशास्त्र मे 'भाव' शब्द का अथ मनोभाव के लिए रूढ होता गया, परिणामत सभी सचारी भावो का मनोभाव स्वरूप सिद्ध किया गया। ततीस सचारी भावो म सभी मनोभाव-स्वरूप नही है। उदाहरणाथ, मद, श्रम, आलस्य, जडता निद्रा, अपस्मार, सुप्त, व्याधि उन्माद, मरण आदि शारीरिक अवस्थाए हैं और मति, वितक, अवहित्थ स्मति आदि बौद्धिक या ज्ञानात्मक अवस्थाए हैं। ऐसी स्थिति में सभी सचारी भावो को मनोभावात्मक सिद्ध करना कहा तक सगत है ? यदि सभी सचारीभाव मनोभावात्मक नही हैं तब इनका वास्तविक स्वरूप क्या है ? इन प्रश्नो का समाधान आधुनिक हिन्दी-मराठी के समीक्षको ने विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

सस्कृत-आचार्यों की परपरानुसार आचाय रामचन्द्र शुक्ल न स्थायीभावो तथा सचारियो की व्यावतक कसौटी 'रस' मानी है। इनके मत म किसी भाव की व्यजना से श्रोता या दशक में भी उसी भाव की प्रतीति हो तो वहा स्थायी भाव समझना चाहिए और शेष भाव तथा मनोवेगो को सचारी, क्योकि स्थायी भाव ही रसावस्था को प्राप्त होते हैं।[५] शुक्ल जी के मत म भावो क स्वरूप

१ रसतरगिणी प० ५।
२ रसगगाधर (जगन्नाथ) प० ३८ ३९।
३ रसगगाधर, प० १०९।
४ दे० भाव-स्वरूप प्रकरण।
५ रसमीमासा, पृ० २०३।

के भीतर ही वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान (स्थायी) और सचारी का विभाग हो जाता है, वह वस्तु है आलम्बन ।[1] आलम्बन के भी दो भेद होते हैं— एक विशेष और दूसरा सामान्य । जो सामान्य आलम्बन होता है उसके प्रति मनुष्य मात्र या कम से कम सहृदयमात्र का वही भाव होगा, जो आश्रय का है ।[2] सामान्य आलम्बन से सम्बद्ध भाव स्थायी भाव होते हैं और सचारीभाव इसी स्थायीभाव के परिपोषक होते हैं । एक भाव दूसरे भाव का सचारी होकर तभी आ सकता है जब उसका विषय वही हो जो प्रधान भाव का आलम्बन है और उसकी अपनी कोई गति या प्रवृत्ति न हो । साथ ही वह भाव स्वय ऐसा हो कि प्रधान भाव के साथ उसका कोई रूपान्तर लगा रहता हो और उसकी गति या प्रवृत्ति वही हो जो प्रधान भाव की होती है ।[3] इससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी स्थायी और सचारी भावो में अगाङ्गिभाव सम्बन्ध मानते हैं । इन्होने परपरागत नतीस सचारीभावो को इसी कसौटी पर कस कर स्थायी भाव का अग बनने में समर्थ सचारीभावो को ही सचारी वर्ग में स्थान दिया है और अन्य सचारियो के सचारित्व का प्रतिषेध किया है । उदाहरणार्थ आलस्य को इन्होने सचारी भाव नहीं माना है, क्योकि इसका किसी भाव के साथ 'प्रत्यक्ष सम्बन्ध' नही है या 'सीधा लगाव' नहीं है ।[4] सामान्यत शुक्ल जी ने प्रधान भाव या स्थायी भाव का केन्द्र बिन्दु मान कर इसके विकटतम पहुचने मे सहायक अनेक शारीरिक और मानसिक अवस्थाओ तथा अत करण की वृत्तियो को भी सचारीभाव में अन्तर्भूत कर लिया है ।

शुक्ल जी के समान प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी सचारियो को व्यापक रूप में ही ग्रहण किया है । इन्होने परपरागत सभी सचारियो का मनोविकार स्वरूप नहीं माना है । इनके मत म इनम कुछ तो बुद्धि की वृत्तियाँ हैं और कुछ शरीर के धर्म हैं । मति वितर्क आदि बुद्धि की वृत्तियाँ हैं और मरण आलस्य, निद्रा, अपस्मार व्याधि आदि शरीर के धर्म हैं । ऐसी स्थिति म यह मानना पडेगा कि सचारी शब्द से शास्त्रकारो का तात्पर्य स्थायी भाव म सहायक होने वाली

१ रसमीमासा पृ० २०४ ।
२ वही, प० २०५ ।
३ वही, प० ३३७ ।
४ वही, पृ० ३२४ २५ ।

वृत्तियो या स्थितियो से है।[1] अत इनके विचार में सचारीगत मानसिक बौद्धिक एव शारीरिक अवस्थाओ को 'भाव' कहना उपलक्षण मात्र है।'[2] सचारीभाव स्थायीभाव म सहायक होने वाली वत्तियाँ या स्थितिया हैं, सभी मनोभाव स्वरूप नही हैं। सचारी विषयक प्रस्तुत दृष्टिकोण का प० रामदहिन मिश्र ने प्रत्याख्यान किया है। इनके मत में सभी सचारीभावो का स्वरूप मनाभावात्मक या चित्तवत्ति रूप ही ह। *अत इनके भावात्मक स्वरूप को उपलक्षणमात्र कहना अनुपयुक्त है।*[3] क्याकि इनके मत में सचरण शील अस्थिर मनोविकार या चित्तवत्तियो को संचारी भाव कहते हैं।[4] इसी दृष्टिकोण से श्री रामदहिन मिश्र ने परपरागत शारीरिक अवस्थारूप अनेक सचारिया को मनोभाव रूप या चित्तवत्ति रूप ही सिद्ध किया ह। मरण श्रम, निद्रा आदि शारीरिक अवस्थारूप सचारिया के मूल में भी इन्होने मनोभाव की ही स्थिति स्वीकार की है।[5] श्री रामदहिन मिश्र ने भरत के व्यापक भाव स्वरूप को दृष्टिगत नही रखा है परिणामत अभिनव गुप्त आदि आचार्यों के अनुसार भाव का चित्तवृत्तिरूप[6] अर्थ ग्रहण करके सचारियो को भी मनाभावात्मक ही मान लिया ह। डा० नगेन्द्र ने भाव को मूलत मनोभाव रूप ही माना है अत इन्होने सचारियो का भी मनाविकार का पर्याय सिद्ध किया है।[7] इनके मत में परपरागत ततीस सचारिया म से उन सचारियो को निकालना आवश्यक है जो मुख्यत शरीर के धम है।[8]

इस प्रकार हिन्दी के आधुनिक समीक्षका म सचारीभावा के स्वरूप के विषय में दो भिन्न भिन्न मत दृष्टिगोचर होत है। एक मतानुसार सचारी भाव का स्वरूप एकातत मनोभावात्मक नही है वरन् सचारी से तात्पय रस या स्थायी भाव की परिपोषक वृत्तियो या स्थितियो स है। इसमें शारीरिक बौद्धिक और मानसिक सभी अवस्थाओ का समावेश हो जाता ह। दूसरे मतानुसार सचारी

१ वाङ्मयविमर्श, पृ० १४८।
२ वही, प० १४८।
३ काव्यदपण, पृ० ८०।
४ वही, पृ० ६७।
५ वही, पृ० ८३।
६ दे० भाव स्वरूप प्रकरण।
७ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८१।
८ वही, पृ० ८२।